समुचित आहार व्यवस्था होने पर भैंसों में उचित वृद्धि देखी गई है और उनमें 400 कि.ग्रा. भार लगभग 3 वर्ष 5 माह की आयु में देखा गया है।

बछड़ों का रख-रखाव

माँ से अलग करने के पश्चात बछड़ों को अलग कमरे में तीन माह की आयु तक रखना चाहिये, जिससे उनकी दूध पीने की इच्छा समाप्त हो जाए। भूमि से संबंध न रखने पर बछड़ों को रोग संक्रमण से बचाया जा सकता है अतः उन्हें लोहे की चारपाईयों अथवा पिंजड़ों में रखना चाहिये। इससे बछड़ों को सफेद दस्तों से बचाया जा सकता है। यद्यपि प्रारंभिक अवस्था में रख–रखाव की यह व्यवस्था मंहगी होती है। परंतु आगे चलकर आर्थिक दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती है। इस व्यवस्था में बच्चों को अलग–अलग दूध/आहार प्रदान किया जाता है जिसे वे आवश्यकतानुसार ग्रहण कर सकते हैं और हृष्ट–पुष्ट बछड़ों द्वारा अन्यों का आहार खा लेने का भय नहीं रहता है और निर्बल बच्चों को कम मात्रा नहीं मिलने पाती है। बछड़ों को ताजा एवं स्वच्छ पानी दिन में 2–3 बार पिलाना चाहिये।

कुशल प्रबंधन का उद्देश्य, भैंसों के निष्पादन पर पड़ने वाले वातावरण के कुप्रभाव को नियंत्रित करना होता है। बछड़ों में इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु निम्नलिखित समस्याओं का सफल निवारण करना आवश्यक है।

(ब) बछड़ों की उच्च मृत्यु दर का नियंत्रण

शास्त्री एवं वर्मा (1988) के अनुसार भैंस के बच्चों में 8–60 प्रतिशत मृत्यु दर पाई गई है। इस संख्या की आधी मृत्युयें जीवन के प्रथम माह से एक वर्ष की आयु में, वर्षा एवं शीत ऋतु में होती हैं, जिनके मुख्य कारण पाचन तथा श्वसन क्रियायें हैं। देशमुख (1988) के अनुसार भैंसों के बच्चों की मृत्यु दर को कम करने की सर्वाधिक प्रभावकारी विधियों में जन्म लेने के पूर्व की प्रबंधन क्रियायें तथा ब्यांत के पूर्व की माँ की उचित आहार व्यवस्थायें है। सिंह, आदि (1988) ने ज्ञात किया है कि भैंस की ओसरों में कम शारीरिक भार (नस्ल का औसत) तथा कम जन्म भार वाले पशुओं का प्रजनन टालना और बच्चा देने के पूर्व माँ की देखभाल करना अति आवश्यक है क्योंकि बरसात में बच्चा देने वाली भैंसों की गर्भावधि की अंतिम तिमाही शुष्क ग्रीष्म काल की होती है जबकि भैंसों की घातीय ताप सहन करना पड़ता है और उस समय

उन्हें निम्न कोटि का आहार उपलब्ध होता है (इच्छपोनानी, आदि 1977; देवेन्द्रा, 1972, यादव, आदि 1985 तथा शास्त्री एवं यादव, 1987)।

भैंस के बछड़ों को दूध पिलाने में अनेक सावधानियाँ रखनी चाहिए। इसमें ऊपर के दूध पिलाने की असावधानी (सिंह एवं सिंह, 1974, अरोड़ा, 1980 आदि), दूध पिलाने की बाल्टी की अनुचित गहराई, दूध का अनुचित ताप (शास्त्री एवं गाल, 1985) और प्रत्येक बच्चे को प्रदान किये गये आहार की मात्रा (अरोड़ा, 1987 एवं सान्धु 1985) सम्मिलित हैं। प्रबंधक इन सभी कारकों को नियंत्रित कर सकता है।

अधिकतर बछड़ों की मृत्यु कम मात्रा में दूध देने वाली भैंसों (100 लिटर प्रति ब्यांत) से कम मात्रा में बच्चे को दूध प्राप्त होने से होती है। अतः ऐसे बच्चों को अन्य भैंसों से दूध पिलाने की उचित व्यवस्था होना चाहिये (वर्मा आदि 1988)। इसी प्रकार अधिक दूध पिलाने से बछड़ों को अधिक मात्रा में दूध प्राप्त होता है और उनमें पाचन की गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है।

गहन प्रबंधन व्यवस्था में रखे गये बच्चों में जो कि फर्श के ऊपर बनाये गये उच्च फर्श अथवा लोहे की चारपाईयों पर रखे जाते हैं, छोटे समूह में रखे जाते हैं तथा जिन्हें एन्टीबायोटिक खिलाई जाती है और जो शीत एवं नम भूमि के संपर्क में नहीं आते हैं, निम्न मृत्यु दर पाई जाती है।

(ब) वयस्कता की आयु कम करना

लगभग 1½ वर्ष की आयु तक भैंस के बच्चों की अच्छी वृद्धि दर होती है। नागरसेंकर (1979) के अनुसार वयस्कता की आधी आयु 19 माह तक प्राप्त हो जाती है। इसके लिये उचित आहार पशुओं को प्राप्त होना चाहिये (मुदगल, 1988)। दुर्भाग्यवश इस आयु में बछड़ों की देखभाल पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता है क्योंकि वे बाड़ों से दूर रखे जाते हैं। गांवों में इस आयु के बछड़ों को उचित पोषण नहीं दिया जाता है क्योंकि उनका विश्वास है कि जब लाभ हो रहा हो उसी समय भली–भांति खिलाया जाना चाहिये। शर्मा (1979) के अन्वेषणों से ज्ञात हुआ कि हरियाणा के एक गांव में 18 माह की आयु तक के बछड़ों में, 16–75 प्रतिशत कम प्रोटीन और 8–56 प्रतिशत से कम कुल पाचनशील तत्व प्रदान किये गये थे। इससे बछड़ों की वृद्धि दर एवं वयस्कता आयु का कुप्रभावित होना स्वाभाविक है। सिंह (1982) के अनुसार

ग्रीष्म एवं शीत ऋतु में बछड़ों की वृद्धि दर में गिरावट आती है। जो बछड़े अकेले बांधकर सामयिक चारे एवं दाना मिश्रण पर रखे जाते हैं उनकी उन बच्चों की अपेक्षा वृद्धि दर उच्च होती है जो चरने के लिये छोड़े जाते हैं और उन्हें थोड़ा दाना मिश्रण भी खिलाया जाता है। समूह में रखे जाने वाले बच्चों की वृद्धि अकेले रखे गये बच्चों से कम पाई गई है (यादव, आदि 1985)। अत्यधिक उष्ण एवं सर्द मौसम का प्रभाव बछड़ों की आयु के विपरीत पड़ता है। ऋतु के प्रभाव को नियंत्रित करने के लिए पौष्टिक तत्वों की मात्रा आवश्यकता से थोड़ी अधिक प्रदान की जानी चाहिये। सारणी 9.17 में बछड़ों की वृद्धि पर विभिन्न ऋतुओं में हरे चारों के प्रभाव को प्रदर्शित किया गया है।

गर्मियों में बछड़ों की वृद्धि दर को नियंत्रित करने के लिये निम्न उपाय किये जा सकते हैं।

(अ) उचित आहार व्यवस्था।

(ब) समुचित पोषण।

(स) आंतरिक एवं बाह्य परोपजीवियों का नियंत्रण।

ग्रीष्म से बचाव के लिये ओसरों की प्रबंधन व्यवस्था

इसके लिये निम्न उपाय किये जा सकते हैं।

(अ) चारों में अच्छी गुणवत्ता वाले द्विदलीय चारों को प्रदान करना तथा रात्रि में आहार खाने में अधिक समय लगाना।

(ब) ओसरो को दिन के समय बाड़ों में तथा रात्रि में खुले में रखना।

(स) पशुओं के शरीर को दिन में लगभग 3 बार पानी से भिगोना।

(द) पशुओं को लगभग 20 दिनों के अंतर से कृमि रहित करना।

(य) बाड़ों में तथा पशुओं के ऊपर कीटनाशक औषधि का छिड़काव।

वयस्क, होने की आयु तक ओसरों का तीन ग्रीष्म ऋतुओं का सामना करना पड़ता है, अतः सदैव ही उपर्युक्त उपायों को अपनाना चाहिये। इसमें प्रथम बच्चा जनन की आयु में 6–9 माह की कमी आ सकती है।

सारणी-9.17 उष्ण एवं शुष्क महीनों में विभिन्न चारों पर रखी गई भैंस ओसरों में दैनिक वृद्धि दर (ग्राम)

समय	हरे चारे	ताप (डिग्री सेल्सियस)	आपेक्षिक आर्द्रता (%)	दैनिक वृद्धि (ग्राम)	शुष्क पदार्थ ग्रहण/कि.ग्रा. वृद्धि (कि.ग्रा.)	संदर्भ
मध्य मार्च से मध्य मई	परिपक्व बरसीम	26.6	72.6	456	7.3	दाल (1980)
अप्रैल–जून	मक्का एवं ज्वार	26.3	79.0	428	9.4	त्रिपाठी, आदि (1972)
मध्य अप्रैल से मध्य जून	बरसीम	32.2	71.9	505	6.3	सिंह, आदि (1985)
अप्रैल–जून	परिपक्व बरसीम एवं ज्वार	27.2	76.0	403	11.6	यादव, आदि (1985)
अप्रैल–जून	चारागाह	27.2	76.0	375	15.2	यादव, आदि (1985)
मध्य अप्रैल से मध्य जून (प्रारंभिक)	ज्वार	32.3	46.0	565	9.0	प्रधान एवं शास्त्री (1987)

सारणी-9.18 उष्ण एवं आर्द्र महीनों में विभिन्न चारों पर रखी गई भैंस ओसरों में दैनिक वृद्धि दर (ग्राम)

समय	हरे चारे	ताप (डिग्री सैल्सियस)	आपेक्षिक आर्द्रता (%)	दैनिक वृद्धि (ग्राम)	शुष्क पदार्थ ग्रहण/कि.ग्रा. वृद्धि (कि.ग्रा.)	संदर्भ
जुलाई–	परिपक्व ज्वार	29.0	93.0	364	13.7	शास्त्री, आदि (1980)
मध्य मई से मध्य जुलाई	बरसीम हे	30.7	81.0	624	6.1	दाल (1980)
जुलाई–सितम्बर	ज्वार	30.3	89.0	573	10.1	यादव, आदि (1985)
जुलाई–सितम्बर	चारागाह	30.3	89.0	521	12.0	यादव, आदि (1985)
मध्य अगस्त से मध्य सितम्बर	ज्वार	26.6	65.5	584	7.6	प्रधान एवं शास्त्री (1987)

सारणी-9.19 उचित आहार व्यवस्था में ओसर की वृद्धि पर ऋतु का प्रभाव

समय	हरे चारे	परिवेश ताप (डिग्री सैल्सियस)	आपेक्षिक आर्द्रता (%)	दैनिक वृद्धि (ग्राम)	शुष्क पदार्थ ग्रहण/कि.ग्रा. वृद्धि (कि.ग्रा.)	संदर्भ
दिसम्बर–मार्च	जई + बरसीम	16.3	82.0	743	7.73	अग्रवाल, आदि (1982)

बछड़ों को सींग रहित करना

बछड़ों के सींग किसी रसायन, यंत्र अथवा विद्युत उपकरण से हटाये जाते हैं। बछड़ों की 10 दिनों की आयु के पूर्व ही यह कार्य किया जाता है। इस अल्प आयु तक सींग की जड़ (हार्न बटन) का संबंध कपालू से स्थापित नहीं होता है।

सींग रोधन के लाभ

इसके निम्नलिखित लाभ हैं।

1. बाड़ों में ऐसे पशुओं को कम स्थान की आवश्यकता होती है।
2. सींग वाले पशुओं से कर्मचारियों को चोट लगने का भय रहता है।
3. सींग वाले पशु सींगों के द्वारा एक दूसरे पशु को चोट पहुंचा सकते हैं।
4. सींग रहित पशुओं की देखभाल सुगमता से की जा सकती है।

सींग रोधन से हानियाँ

इसकी निम्नलिखित हानियाँ हैं।

1. प्रदर्शनियों में सींग वाले पशु अधिक पसंद किये जाते हैं, क्योंकि सींग उनकी प्राकृतिक संरचना प्रकट करते हैं।
2. कुछ नस्लों में सींग उनकी नस्ल के प्रमुख लक्षण होते हैं।
3. सींग वाले पशु सींगों से अपनी रक्षा कर सकते हैं।

सींग रोधन की विधियां

इसकी निम्नलिखित विभिन्न विधियां प्रचलित हैं।

रासायनिक विधि

इस विधि में कास्टिक सोडा अथवा पोटाश काम में लाया जाता है। चाक के आकार तथा पेस्ट के रूप में यह रसायन उपलब्ध है। इसमें निम्न ढंग से सींग रोधन करते हैं।

(अ) सींगों की जड़ों से बालों को काटकर, रसायन को लगाया जाता है।

(ब) कास्टिक पोटाश की छड़ को होल्डर से भली–भांति पकड कर गोलाई में रगड़ा जाता है, जब तक कि सींग की जड़ कोमल होकर हटने की स्थिति में न हो जाए।

(स) दोनों ओर के सींगों का इसी प्रकार रोधन किया जा सकता है।

(द) कास्टिक का प्रयोग मात्र सींग की जड़ पर करना चाहिए। इसकी अधिकता से त्वचा के बाल अथवा आंख को चोट आ सकती है।

यांत्रिक विधि

इसमें निम्नलिखित विधियां हैं।

1. रबड़ बैण्ड

इस विधि से खुला घाव नहीं बनने पाता है। इससे रक्त प्रवाह रूक जाता है और सींग धीरे–धीरे अलग हो जाता है। रबड़ बैण्ड को किसी रबड़ फैलाने वाले यंत्र में लगा कर सींग के ऊपर जड़ के पास लगा दिया जाता है।

2. आरी

इससे सींगों को काटकर अलग कर दिया जाता है।

3. विद्युत

विद्युत द्वारा सींग रोधन करने में रोधक 937.8° सैल्सियस तक गर्म करके सींग की बटन पर 10 सेकंड तक लगाया जाता है जिससे सींग की कोशिकायें नष्ट हो जाती हैं।

बछड़ों को बधिया करना

नर बछड़ों को बधिया करने के लिये उसके वृषणों को हटाया जाता है। शल्य चिकित्सा में यह सर्वाधिक पुरानी विधि है। इसका मुख्य उद्देश्य जनन को बंद करना, वृद्धि दर में गति लाना, वांछित गुणों वाला मांस उत्पादन करना और पशु को अधिक सहनशील बनाना है। बछड़ों को बधिया करने का समय 8–10 सप्ताह की आयु का है।

बधिया करने की विधियां

निम्न मुख्य विधियां हैं।

1. खुली शल्य क्रिया

वृषण थैली में चीरा लगाकर वास डिफरैंस को थैली से अलग कर देते हैं। इससे शुक्राणु नर लिंग में नहीं आ पाते हैं और पशु बधिया हो जाते हैं।

2. बर्डिजोकास्ट्रेटर द्वारा

यह बधिया करने की रक्तहीन विधि है। वृषण के ऊपर 2.5–5.0 से. मी. की दूरी पर कार्ड को कुचल दिया जाता है, इससे वृषण को रक्त की पूर्ति बंद हो जाती है और पशु बधिया हो जाता है। इस कार्य को सम्पन्न करने में निम्नलिखित सावधानियां रखनी चाहिये।

(अ) बधिया करते समय कार्ड को भली–भांति कुचलना होता है।

(ब) बर्डिजो को बहुत नीचा नहीं रखना चाहिये जिससे वृषण कुचल जाये।

(स) त्वचा की किसी सलवट को बर्डिजो द्वारा दबाना नहीं चाहिये।

3. रबड़ की रिंग द्वारा

बछड़े की अल्प आयु में ही कोर्ड के चारों ओर रबड़ की अंगूठी (रिंग) पहना देने से वृषणों में रक्त का संचार बंद हो जाता है जिससे कुछ समय पश्चात् वे सूख जाते हैं और पशु बधिया हो जाता है।

पशुओं को चिन्हित करना

पशु पालकों के अतिरिक्त अन्यों के संतोष के लिए भी पशुओं की पहचान करना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त पशु के खोने, चोरी जाने तथा अन्य विवादों के समय पशु के चिन्हित होने से सहायता मिलती है। पशुओं को चिन्हित करने के निम्न ढंग हैं।

1. ब्रान्डिंग

इस विधि में गर्म लोहे के अक्षरों के द्वारा त्वचा पर चिन्ह लगाया जाता है। लगभग एक वर्ष की आयु में बच्चों का ब्रान्डिंग करना चाहिये। जिस ऋतु

में मक्खियं न हों, उसका धूप वाला दिन इस कार्य के लिये अच्छा रहता है। इसमें 1–9 तक और 0 संख्या तथा 'ए' से 'जेड' तक अक्षर होते हैं। यदि गर्म करने वाला भाग तांबे का हो तो अच्छा है, क्योंकि इसमें उष्मा अधिक अच्छी प्रकार रूकती है और बालों से यह चिपकता भी नहीं है। उसी ब्रान्डिंग आइरन को उष्ण तथा रासायनिक ब्रान्डिंग के लिये प्रयोग किया जाता है। रासायनिक ब्रान्डिंग अस्थाई और कम अच्छी है। ब्रान्डिंग के लिये पशुओं को पैर बांध कर अथवा गिराकर भली–भांति काबू में करना चाहिये।

यदि गर्म लोहे से ब्रान्डिंग करनी हो तो वांछित लोहे को गहरे लाल रंग तक गर्म करना चाहिये और थाई की बगल में त्वचा पर थोड़े दबाव के साथ जो कि 3 सेकंड के लिये हो, ब्रान्डिंग कर देना चाहिये। घाव को शीघ्र भरने के लिये थोडे से कड़वे तेल में जिसमें थोड़ा जिंक ऑक्साइड मिलाया गया हो, जलाये गये स्थान पर मल देना चाहिये।

रासायनिक ब्रान्डिंग करने के लिये लोहे को रासायनिक स्याही में डुबोना चाहिये और अधिक स्याही को बाहर निकाल देना चाहिये तथा भींगे लोहे को त्वचा पर लगा देना चाहिये।

अक्षर इतने बड़े होने चाहिये (2.5 से.मी.) कि उन्हें कुछ दूरी से पढ़ा जा सके और पशु की वृद्धि तथा ऊपरी त्वचा के गिरने से वे आपस में मिल न जाए।

2. टेटुइंग

चिन्हित करने की इस विधि में, कान की त्वचा में वांछित अक्षर नुकीली सुई चुभे कर बनाये जाते हैं और इसमें काली शाकाहारी दिगमेंट भर दी जाती है। स्टील की नुकीली वस्तु से विभिन्न अक्षर और आकृतियां बनाई जाती हैं जिनमें से प्रत्येक में रंगीन पेस्ट की थोड़ी सी मात्रा, त्वचा से नीचे ऊतकों अथवा कान की कार्टिलेज में भर दी जाती है। इन पेस्टों में अघुलनशील कार्बन (काला) अथवा हरा पिगमेंट जो कि ऊतकों के लिये क्रियाहीन होता है, पायाजाता है। टेटुइंग के चिन्हों को पशु के निकट जाकर सावधानीपूर्वक देखने पर ही पढ़ा जा सकता है और रंगीन त्वचा पर पढ़ने में कठिनाई भी होती है। यदि टेटुइंग को भली भांति किया जाए तो चिन्ह स्पष्ट और स्थाई होते हैं परन्तु समय के साथ वे धुंधली हो जाती हैं। अतः यह विधि नवजात बछड़ों

में ही अधिक उपयोगी पाई गई है। भैंसों में पूंछ की जड़ पर भी टेटुइंग की जा सकती है।

जिस स्थान पर टेटुइंग करनी हो, उस स्थान को पानी तथा साबुन से भली–भांति साफ करना चाहिये, तौलिये से सुखाकर, चिकनाई हटाने के लिये स्प्रिट लगानी चाहिये। इस स्थान पर टेटुइंग स्याही को भली–भांति लगा देते हैं। तत्पश्चात वांछित आकृति अथवा संख्या को चिमटी में फिट करके, चिमटी के सिरों को जोर से दबा दिया जाता है और अंगूठे की सहायता से कुछ ओर स्याही गुदने के स्थान पर डाल दी जाती है। कभी–कभी त्वचा से थोड़ा रक्त बहने लगता है यदि शिरा पंक्चर नहीं हुई है तो थोड़ी मात्रा में ही रक्त बहता है जो चिंताजनक नहीं है। चिकनाई युक्त त्वचा, अनुचित टेटुइंग, अपर्याप्त अच्छा नहीं होता है।

कानों में अंगूठी पहनाना (टेगिंग)

प्लास्टिक अथवा हल्की धातुओं की अंगूठी बनायी जाती है जिनके ऊपर संख्या उभरी होती है। इनको विशेष प्रकार की चिमटी से लगाया जा सकता है। ये दो प्रकार की होती है। इस प्रकार की अंगूठी में छेद बनाना पड़ता है तथा दूसरे प्रकार की स्वयं छेद करके लगायी जाती है। इन चिन्हों को बच्चों के कानों में प्रयोग किया जाता है। जितना भी संभव हो कान के ऊपरी किनारे पर छिद्र किया जाता है। छिद्र किनारे से इतने सन्निकट हो कि न तो वह कान को बहुत अधिक दबायें रखें और न बाहर की ओर अंगूठी लटकती रहे। अगूंठी को छिद्र में रखकर चिमटी (मशीन) से दबा दिया जाता है जिससे वह बंद (लोक) हो जाती है। संक्रमण को रोकने एवं घाव को भरने की दृष्टि से घाव पर कोई औषधि लगानी चाहिये।

भैंस के बच्चों की वृद्धि ज्ञात करना

समय–समय पर सामान्यतः 15 दिनों अथवा दो सप्ताह के अंतर से बच्चों का भार ज्ञात करना आवश्यक होता है। इससे बच्चों की सामान्य वृद्धि और स्वास्थ्य का आभास मिलता है, यदि उनकी वृद्धि उचित प्रकार से नहीं हो रही है तो उनकी आहार व्यवस्था एवं प्रबंधन में सुधार किया जाना चाहिये। सारणी 9.20 में सूरती नस्ल की भैंस के बच्चों की वृद्धि प्रदर्शित की गई है।

सारणी-9.20 सूरती भैंस के बच्चों की जन्म से 30 माह की आयु तक शारीरिक माप (से.मी.) एवं भार (कि.ग्रा.)

आयु	लंबाई	हृदय का घेरा (गर्थ)	ऊंचाई	शरीर भार
0 (जन्म)	58.19 ± 1.18	67.6 ± 1.03	25.49 ± 1.03	
3	67.3 ± 1.35	78.4 ± 1.19	73.35 ± 1.16	40.1 ± 2.36
6	84.87 ± 0.94	100.69 ± 1.45	86.97 ± 1.56	75.21 ± 3.49
9	97.04 ± 1.24	115.77 ± 1.29	95.32 ± 1.02	106.35 ± 3.49
12	105.44 ± 1.10	127.56 ± 1.56	102.05 ± 0.72	136.56 ± 3.97
15	112.41 ± 0.98	136.72 ± 1.46	107.03 ± 0.81	166.28 ± 4.29
18	117.53 ± 1.43	142.86 ± 1.91	110.03 ± 0.89	200.61 ± 6.59
21	122.38 ± 1.38	152.06 ± 2.62	113.99 ± 1.18	239.84 ± 6.70
24	126.42 ± 1.56	161.50 ± 3.18	119.08 ± 1.40	275.04 ± 6.64
27	129.60 ± 2.84	166.50 ± 3.97	119.9 ± 1.23	315.41 ± 7.99
30	134.06 ± 2.30	174.81 ± 3.26	122.26 ± 1.24	354.49 ± 11.77

जानकीरमन एवं मेहता (1987)

विश्व के विभिन्न देशों में भैंसों के शावकों की वृद्धि दर सारणी 9.21 में प्रदर्शित है।

सारणी-9.21 विभिन्न देशों में भैंस के बच्चों की वृद्धि दर (कि.ग्रा./दिन)

भैंस नदी (रिवराइन)	वृद्धि दर	भैंस स्वाम्प भैंसें	वृद्धि दर
बुलगेरिया	0.64–0.90	आस्ट्रेलिया	0.70
मिस्र	0.38–0.79	इंडोनेशिया	0.30–0.73
भारत	0.49–0.53	फिलिपाइंस	0.33–0.72
इराक	0.73–1.16	थाइलैंड	0.32–0.46
श्रीलंका	0.51	मात्र (चारागाह के आहार पर)	
यू.एस.एस.आर.	0.73–1.12		

भार के साथ यदि शरीर की माप का भी रिकार्ड रखा जाता है तो पशुओं की वृद्धि दर के मूल्यांकन में अत्यधिक सहायता मिलती है। भार के साथ पशु की ऊंचाई, हृदय का घेरा एवं पशु की लंबाई में भी बढ़ोत्तरी होना आवश्यक है।

जनन अंगों का विकास ज्ञात करना

नर तथा मादा बच्चों के जनन अंगों के विकास का अध्ययन करने का उद्देश्य उनकी लैंगिक परिपक्वता ज्ञात करना है। सूरती भैंसों में ज्ञात किया गया है कि आहार व्यवस्था एवं प्रबंधन की सामान्य दशाओं में नरों में लैंगिक परिपक्वता लगभग 17.33 माह की अवस्था में आ जाती है।

10–12 माह के मादा बच्चों के निरन्तर परीक्षणों से ज्ञात किया जाता है कि लैंगिक परिपक्वता की आयु तक डिम्ब (ओवरी) एवं गर्भाशय (यूटेरस) को भी सक्रिय हो जाना चाहिये। ये परीक्षण प्रति सप्ताह किये जाते हैं। भैंस की 9–16 माह की ओसरों में अध्ययन करके ज्ञात किया गया है कि आयु के साथ डिम्ब के आकार में वृद्धि होती है। प्रथम बार 14.1 माह की आयु एवं 179.14 कि.ग्रा. भार पर पीत पिंड (कारपस ल्यूटियम) की रचना को ज्ञात किया गया है। औसत रूप से लगभग 16 माह की आयु में प्रथम बार पशु

मद में आने का प्रतिवेदन है। इस आयु में औसत भार 204.86 कि.ग्रा. (देवराज एवं जानकीरमन, 1986) ज्ञात किया गया है, भैंस के जनन अंगों के विकास से संबंधित सूचना सारणी 9.22 में प्रदर्शित की गई है।

वृद्धि करने वाले बच्चों को टीका लगाना

नवजात शावकों के प्रमुख रोगों में पोंका (डायरिया) अथवा सफेद दस्त नाड़े का रोग एवं न्यूमोनिया हैं जिनके लिये टीका तैयार नहीं हो सके हैं। लगभग 3 माह की आयु तक उचित स्वच्छता के उपायों द्वारा इन रोगों की रोकथाम की जाती है। एक बार जब बच्चों को ठोस आहार खिलाना प्रारंभ कर देते हैं, तो उन्हें सफेद दस्त रोग लगने की संभावना नहीं रहती है।

टीके का नाम	लगाने का समय
1. खुरपका, मुंहपका टीका (फुट माउथ वैक्सीन)	प्रथम टीका 10 दिन की आयु में पुनः अनुवर्धक (बूस्टर) मात्रा 2 माह की आयु में और इसके पश्चात 6 माह के अंतराल पर टीके लगाये जाते हैं।
2. पोंका अथवा प्लेग रोग का टीका (रिंडरपेस्ट वैक्सीन)	तीन माह की आयु में ऊतक संबंधी (टिश्यू कल्चर) टीका और इसके पश्चात प्रतिवर्ष एक बार।
3. गलघोंटू रोग का टीका (हीमोरेजि सेप्टीसीमिया वैक्सीन)	प्रथम टीका 6 माह की आयु में और इसके पश्चात 6 माह के अंतराल पर टीके लगाये जाते हैं।
4. लंगड़ी रोग का टीका (ब्लैक क्वार्टर वैक्सीन)	प्रथम टीका 6 माह की आयु में और और इसके पश्चात प्रति 12 माह के अंतराल पर

भैंस के बच्चों में कृमि (वर्म) नष्ट करना

वृद्धि के समय बच्चे गोल कृमि (एसकेरिक), हुक वर्म एवं काक्सीडिया से संक्रमित हो जाते हैं। जन्म के समय गोल कृमि गर्भाश्य के रास्ते नवजात बच्चों में स्थानांतरित हो जाते हैं और वे बच्चों की वृद्धि में कठिनाईयां उत्पन्न

सारणी-9.22 सूरती भैंसों के सांड़ों में जनन अंगों की माप (से.मी.)

आयु (माह)	वृषण कोष की लंबाई	वृषण कोष का घेरा	दाई वृषण		बाई वृषण	
			लंबाई	चौड़ाई	लंबाई	चौड़ाई
0-1	4.170.48	5.85±0.59	2.34±0.24	1.27±0.11	2.47±0.27	1.41±2.11
1-2	5.48±0.47	7.81±0.54	2.92±0.25	1.71±0.06	3.43±0.10	1.66±0.08
2-3	6.51±0.45	8.5±0.45	3.67±0.23	1.83±0.08	3.38±0.23	1.83±0.08
3-4	7.17±0.28	10.17±0.28	3.87±0.20	1.93±0.05	3.75±0.24	1.75±0.07
4-5	7.04±0.20	10.63±0.22	3.86±0.19	2.07±0.10	3.98±0.24	1.99±0.12
5-6	7.61±0.26	11.5±0.22	4.64±0.26	2.33±0.12	4.83±0.30	2.34±0.14
6-7	8.08±0.44	12.0±0.20	5.15±0.92	2.46±0.10	5.18±0.18	2.47±0.08
7-8	8.39±0.24	12.35±0.44	5.58±0.30	2.61±0.11	5.44±0.30	2.45±0.12
8-9	9.08±0.39	13.0±0.38	5.62±0.34	3.69±0.83	5.84±0.32	3.01±0.13
9-10	9.26±0.49	13.45±0.39	5.27±0.33	2.6±0.20	5.38±0.37	2.65±0.15
10-11	10.05±0.52	13.66±0.37	5.83±0.34	2.98±0.20	6.00±0.34	3.07±0.15
11-12	9.55±0.67	14.05±0.30	6.03±0.36	3.10±0.20	6.11±0.35	3.18±0.14
12-13	9.33±0.42	14.83±0.16	6.08±0.27	3.08±0.18	6.33±0.27	3.02±0.16
13-14	11.57±0.36	15.92±0.41	7.12±0.21	3.82±0.20	7.28±0.40	3.62±0.25
14-15	10.24±0.59	16.78±0.42	7.85±0.42	3.78±0.10	8.17±0.42	3.80±0.17

देशपांडे, 1983

करते हैं। उन क्रमियों से ग्रसित बच्चों की क्षुधा मंद पड़ जाती है और वे आक्षेप (कनवल्सन) तथा मंद पाचन के भी लक्षण प्रकट करते हैं। पिपराजीन यौगिक से सभी प्रकार के गोल कृमि नष्ट किये जा सकते हैं। पिपराजीन का 56.3 प्रतिशक का घोल, 8वें दिन से 3–6 मि.लि. प्रति 10 कि.ग्रा. शारीरिक भार पर सुई के द्वारा लगाया जाता है। प्रथम तीन माह तक प्रति माह परंतु इसके पश्चात प्रति दो माह पर यह उपचार किया जाता है।

अध्याय-10

भैंसों में दूध, मांस एवं कार्य उत्पादन

इस अध्याय में दूध, मांस एवं कार्य उत्पादन में भैंस की उपयोगिता का वर्णन किया जायेगा। भैंस एक बहुउद्देशीय पशु है। भारत के पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात, दिल्ली के आस–पास एवं पश्चिम उत्तर प्रदेश, पाकिस्तान में सिंध तथा पेशावर में किसान भैंसों को अति मूल्यवान मानते हैं। इन क्षेत्रों के किसान अपने परिवार में कुछ पशु रखना अति आवश्यक समझते हैं जिनसे उन्हें दूध एवं दूध पदार्थ प्राप्त हो सकें तथा इनकी कुछ मात्रा विक्रय करके अपने परिवार के लिए दिन प्रतिदिन के व्यय के लिए आय हो सके। गाय के दूध की अपेक्षा भैंस के दूध को अधिक उपयोगी समझा जाता है क्योंकि इससे अधिक मात्रा में और अच्छा घी, उत्तम कोटि का दही तथा अधिक मात्रा में उच्च गुणों वाला मावा प्राप्त होता है। भैंस के दूध से बनी चाय या कॉफी को भी अधिक पसन्द किया जाता है।

दूध उत्पादन

विश्व में उत्पन्न होने वाले कुल 36.86 मिलियन टन दूध का 65 प्रतिशत मात्र भारत की भैंसों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यद्यपि हमारे देश में भैंसों की संख्या दुधारू पशुओं की कुल संख्या का लगभग एक–तिहाई ही है परन्तु वे देश में उत्पन्न होने वाले कुल दूध की आधी मात्रा से भी अधिक दूध प्रदान करती हैं। इस देश में भैंसों को समृद्धि का द्योतक माना जाता है और इसीलिए कहा है कि

Come my beloved, Let's buy a buffalo,

For then, we too shall be opulent.

गत कुछ वर्षों में विश्व के विभिन्न देशों में भैंसों द्वारा दिये गये दूध की मात्रा निम्नलिखित सारणी 10.1 में प्रदर्शित की गई है।

सारणी-10.1 विश्व में भैंसों द्वारा दूध उत्पादन

(1,000 मीट्रिक टन)

देश का नाम	दूध उत्पादन		प्रतिशत वृद्धि
	1975	1985	अथवा गिरावट
मिस्र	1,150	1,350	14.82
ब्राजील	–	–	–
बंगला देश	43	27	–59.26
बर्मा	36	68	47.06
चीन	1,035	1,620	36.12
इंडोनेशिया	–	–	–
नेपाल	450	560	19.65
पाकिस्तान	3,998	7,100	43.69
फिलीपाइंस	18	18	00.00
थाइलैंड	6	7	14.29
वियतनाम	29	56	48.22
बुल्गेरिया	31	23	–34.79
इटली	60	58	–3.45
रोमानिया	–	–	–
यूगोस्लाविया	–	–	–
यू.एस.एस.आर.	–	–	–
विश्व	23,365	32,503	28.12

भारत में भैंसों के दूध उत्पादन का उदाहरण पंजाब कृषि विश्वविद्यालय में मुर्रा भैंसों द्वारा विभिन्न वर्षों में उत्पन्न किये गये दूध से भली–भांति दिया जा सकता है (सारणी–10.2)।

सारणी-10.2 पंजाब कृषि विश्वविद्यालय, लुधियाना में विभिन्न वर्षों में मुर्रा भैंस की दूध निष्पाद क्षमता

वर्ष	प्रेक्षण	305 दिनों का दूध उत्पादन (कि.ग्रा.)	ब्यांत का कुल दूध उत्पादन (कि.ग्रा.)	ब्यांत की अवधि (दिनों में)
1971–72	134	1,062	1,120	233
1972–73	149	1,344	1,453	301
1973–74	193	1,919	1,990	312
1974–75	192	2,102	2,193	296
1975–76	220	2,073	2,198	310
1976–77	196	2,113	2,432	319
1977–78	174	1,818	1,954	309
1978–79	179	2,032	2,305	357
1979–80	166	2,066	2,207	307
1980–81	175	1,918	2,030	298
1981–82	144	2,009	2,127	307
1982–83	146	2,273	2,687	400
1983–84	145	2,346	2,450	349

मुदगल, 1988

हमारे देश में मिश्रित खेती अधिक प्रचलित है और अध्ययनों द्वारा ज्ञात हुआ है कि 19.3 प्रतिशत कृषक, फसलों से जिनकी वार्षिक आय 3,500/– रुपये है, दूध से एक वर्ष में 980/– रुपये अर्जित करते हैं। फसलों से औसतन 25,000/– रुपये प्रतिवर्ष कमाने वाले 28.4 प्रतिशत किसान, फसलों से जिनकी आय, 45,000/– रुपये प्रतिवर्ष है, दूध के विक्रय से वर्ष में 5,800/– रुपये की आय करते हैं।

यद्यपि पर्याप्त समय पूर्व यह प्रचलित था कि "श्यानों को मिलता दूध और भूखे बच्चे अकुलाते हैं, माँ की ठठरी से चिपक ठिठुर जाड़े की रात बिताते

हैं" परन्तु आधुनिक समय में भी दूध उत्पादन में वांछित वृद्धि नहीं हो सकी है और भविष्य में अभूतपूर्व सुधार की आवश्यकता है।

दूध की परिभाषा

दूध एक पूर्ण आहार माना गया है। इसमें सभी प्रकार के पोषक पदार्थ उपस्थित हैं जिनका उपयोग सभी आयु वाले मनुष्य अपने शरीर की आवश्यकता की पूर्ति हेतु करते हैं। दूध की परिभाषा में निम्नलिखित बातें निहित हैं:–

1. दूध पशु शरीर से प्राप्त होने वाले पदार्थों में से एक है।
2. यह मादा पशुओं द्वारा उत्पन्न किया जाता है। जिनके बच्चे इसे चूस कर पीते हैं।
3. दूध पशुओं के स्तनों द्वारा उत्पन्न होता है।
4. दूध एक नवजात शिशु के आहार के लिए बना है और शिशु उस समय तक इसका सेवन करता है जब तक कि वह माँ से अलग होकर स्वतंत्रता पूर्वक ठोस आहार का प्रयोग न करने लगे।

डेवीज की परिभाषा

दूध पशुओं की स्तन ग्रथियों का स्राव है जो नवजात शिशु के तुरंत पोषण एवं वृद्धि के लिए बना है।

रासायनिक परिभाषा

दूध एक विषमरूपी पदार्थ है, जिसमें प्रोटीन, वसा, खनिज लवण, विटामिंस इत्यादि घोल के रूप में पाये जाते हैं।

वैद्य परिभाषा

आहार अपमिश्रण अधिनियम (फूड एडल्टिरेशन एक्ट, 1955) के अन्तर्गत भैंस के दूध की परिभाषा इस प्रकार की गई है।

"भैंस के दूध में, पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, असम, महाराष्ट्र एवं सौराष्ट्र प्रदेशों के लिए वसा की मात्रा 6.0 प्रतिशत परन्तु

अन्य प्रदेशों के लिए इसकी मात्रा 5.0 प्रतिशत से कम नहीं और वसा रहित ठोस का प्रतिशत 9.0 होगा।

भैंस के दूध का संघटन

भैंस के दूध में निम्नलिखित विभिन्न अवयव पाये जाते हैं, जिनमें परिवर्तन होता रहता है।

वसा

यह भैंस के दूध का एक अति महत्वपूर्ण तत्व है। सामान्यतः भैंस के दूध में वसा की मात्रा 6–7% पाई जाती है परन्तु इस पर नस्ल, मौसम, ऋतु, पोषण–स्तर, पशु की आयु, ब्यांत की दशा आदि कारकों का प्रभाव पड़ता है। पाकिस्तान, भारत एवं मिस्र के अनेक विद्धानों (रागब आदि, 1958; अनंतकृष्णनन, 1963 और चौधरी एवं कुरेशी, 1968) ने बतलाया कि ग्रीष्म की अपेक्षा शीत एवं वर्षा ऋतु में अधिक वसा पाई जाती है।

भैंस के खीस में वसा का प्रतिशत 7.6 था जो दूसरी और तीसरी बार दुहने में अधिक हो गया और इसके पश्चात् अनिश्चितता पाई गई थी (अनंतकृष्णन, 1963)। अन्य विद्धानों ने भैंस के दूध में वसा की मात्रा 6.10–8.50 प्रतिशत के मध्य बतलाई है तथा औसत 7.03, ब्यांत के 22वें सप्ताह के पश्चात वसा की मात्रा औसत से ऊपर होने लगी तो ब्यांत के अन्तिम 2 माह में अधिकतम पाई गई।

अनेक विद्धानों (यारकिन, 1952; सिंह, आदि 1958 और जुमा एवं अकबर, 1970) ने ज्ञात किया कि ब्यांत के प्रारंभ से बढ़कर ब्यांत के 4–5वें माह में अधिकतम वसा पाई जाती है।

आयु के साथ दूध में वसा की मात्रा बढ़ती है और प्रथम ब्यांत की अपेक्षा 4–5वें ब्यांत में उच्च वसा पाई जाती है। अस्कर, आदि (1958) ने यह मात्रा प्रथम ब्यांत में 6.3 प्रतिशत तथा चौथे ब्यांत में 6.6 प्रतिशत बतलाई है।

महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश एवं गुजरात के बिनौला खिलाये जाने वाले प्रदेशों में उच्च दूध वसा पाई गई है (पटेल एवं रे, 1948)।

कुल ठोस

दूध में कुल ठोस पदार्थ, पशु को प्रदान किये गये आहार एवं विपणन मूल्य का आभास देता है। इस पर नस्ल, ब्यांत की दशा, ऋतु और परिवेश ताप का प्रभाव पड़ता है। स्वाम्प भैंस के दूध में 18.0 प्रतिशत, नदी वाली (रिवराइन) भैंसों में कुल ठोस पदार्थ की मात्रा 14.12–17.0 प्रतिशत पाई गई है।

भैंस की खीस में कुल ठोस पदार्थ की अधिकतम मात्रा 26.98 प्रतिशत पाई गई जो 6 घंटों के ही पश्चात् कम हो गई। दूसरी और तीसरी बार दूध निकालने में इसकी मात्रा और कम हो गई तथा बच्चा देने के 72 घंटों तक इसमें गिरावट आई परंतु 84वें घंटे में पुनः वृद्धि हुई और 120 तथा 144 घंटों में दुबारा गिरावट आई।

घोष एवं अनंतकृष्णनन (1964) ने भारत में भैंस के दूध में कुल ठोस पदार्थ की मात्रा प्रारम्भ में 16.45 प्रतिशत प्राप्त की जो बच्चा देने के 41वें दिन कम होकर 15.98 प्रतिशत रह गई। ब्यांत के 5वें माह में यह आंकड़ा औसत से उठ गया और ब्यांत के अंतिम 2 माह में अधिकतम हो गया। वेट, आदि (1956) ने प्रथम 45 दिनों में, निम्नतम तथा 200 दिनों के पश्चात् अधिकतम ठोस पदार्थ की मात्रा प्राप्त की। ईराकी भैंसों में कुल ठोस 16.06–20.20 प्रतिशत तथा औसतन 17.07 प्रतिशत तक पाया गया है (जुमा एवं अलसफर, 1970)। उन्होंने बतलाया कि ब्यांत के माह का ठोस की मात्रा पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। रागब, आदि (1958) ने ऋतु के प्रभाव का अध्ययन करके ज्ञात किया कि शीत ऋतु में 16.33 और ग्रीष्म ऋतु में 16.62 प्रतिशत ठोस पदार्थ भैंसों के दूध में उपस्थित थे। इन्होंने उच्च ताप का भी कुल ठोस पर प्रभाव रिकार्ड किया।

प्रोटीन

भैंस की खीस में प्रोटीन की मात्रा 6 घंटों तक अधिकतम पाई गई परन्तु 12 घंटों के पश्चात यह कम होना प्रारंभ हो गई और 120 घंटों के पश्चात 5.11 प्रतिशत ही रह गई।

भैंस की खीस में प्रारंभ से केसीन की मात्रा 4.20 प्रतिशत थी जो कि 120 घंटों के पश्चात 0.42 प्रतिशत देखी गई। ग्लोब्युलिन जो प्रारंभ में

अत्यधिक (9.93 प्रतिशत) थी, 120 घंटों के पश्चात् बहुत कम (मात्र 0.28 प्रतिशत) पाया गया।

अप्रोटीन नाइट्रोजन प्रारंभ में थोड़ा कम (0.29 प्रतिशत) परंतु 120 घंटों के अंत में अधिक (0.31 प्रतिशत) पाया गया।

भैंस के दूध में वास्तविक प्रोटीन 3.35–3.41 प्रतिशत पाई गई है। केसीन एवं एलब्युमिन की मात्रा क्रमशः 3.0 और 0.38 प्रतिशत पाई गई है।

लैक्टोज

प्रारंभ में खीस में लैक्टोज की मात्रा कम पाई गई थी परन्तु 84वें घंटे में इसका सामान्य स्तर पाया गया। सामान्यतः भैंस के दूध में लैक्टोज की मात्रा 4–5 प्रतिशत पाई गई है।

अनेक वैज्ञानिकों (मेगिट एवं मान, 1912, स्टेवार्ट एवं बनर्जी, 1930–31) के अनुसार भैंस के दूध में 4.27–5.28 प्रतिशत लैक्टोज पाया जाता है। सिनीडर, आदि (1948) ने यह आंकड़े औसतन 4.88 प्रतिशत, एल–सोक्कारी एवं हसन (1950) ने 4.87 प्रतिशत तथा एल–सलाम एवं एल–शिबिनी (1966) ने 4.99–5.00 प्रतिशत प्रकाशित किये हैं। सिनीडर, आदि (1948) ने ब्यांत के 2–3 माह में अधिकतम लैक्टोज प्राप्त किया। यह 6 माह तक स्थिर रहा परंतु इसके पश्चात इसमें गिरावट आई (सारणी–10.4)।

सेंगर, आदि (1990) ने मुर्रा भैंसों पर अनुसंधान करके ज्ञात किया कि उनके दूध में लैक्टोज का प्रतिशत 4–5 के मध्य पाया गया यद्यपि इसके आंकड़े 4.02 से 6.46 तक प्राप्त किये गये।

कोलिस्ट्रोल

भैंस के दूध में कोलिस्ट्रोल की मात्रा विभिन्न ऋतुओं, ग्रीष्म, शीत, शरद, बसंत एवं वर्षा ऋतु में क्रमशः 3.45, 3.96, 3.54, 3.40 एवं 3.3 मि.ग्रा. प्रति 100 मि.ली. दूध पाई गई है।

सिट्रिक अम्ल

भैंस के दूध में अनंतकृष्णनन (1943) द्वारा इस अम्ल की मात्रा 0.196 प्रतिशत पाई गई थी। भैंस की खीस में सिट्रिक अम्ल की अधिक मात्रा पाई

सारणी-10.3 भैंस के खीस (कोलेस्ट्रम) का रासायनिक संघटन (प्रतिशत)

ब्याने के पश्चात समय (घंटे)	कुल ठोस	वसा	लैक्टोज	प्रोटीन	केसीन	एलब्युमिन	ग्लोब्युलिन	अप्रोटीन नाइट्रोजन
1	26.98	7.6	4.22	15.48	4.20	0.60	9.93	0.29
6	23.58	7.7	3.95	11.99	4.07	0.58	6.67	0.24
12	20.69	9.9	4.29	6.48	2.98	0.38	2.69	0.23
24	19.96	9.3	4.72	5.90	3.46	0.37	1.51	0.28
36	17.18	6.9	5.49	5.33	3.40	0.31	0.84	0.32
48	16.87	6.9	4.93	5.08	3.69	0.36	0.62	0.33
72	16.31	6.5	4.77	5.09	3.80	0.38	0.46	0.31
84	18.48	6.9	5.97	5.61	4.33	0.54	0.30	0.32
120	17.20	6.7	5.32	5.22	4.08	0.39	0.31	0.29
144	17.10	6.3	5.69	5.11	3.98	0.42	0.24	0.31

घोष एवं अनंतकृष्णनन (1964)

सारणी-10.4 ब्यांत की दशा का दूध के औसत संघटन पर प्रभाव

ब्यांत की दशा (दिनों में)	दूध उत्पादन (कि.ग्रा.)	कुल ठोस (%)	वसा (%)	लैक्टोज (%)	प्रोटीन (%)	केसीन (%)	एल्ब्युमिन (%)	ग्लोब्युलिन (%)	अप्रोटीन नाइट्रोजन (%)
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
10	8.40	16.66	6.55	5.76	4.53	3.48	0.29	0.31	0.23
21	10.56	16.22	6.40	5.69	4.14	3.23	0.28	0.22	0.22
35	9.99	15.90	6.29	5.88	3.76	2.95	0.24	0.21	0.20
49	9.53	15.38	6.10	5.77	3.52	2.72	0.23	0.18	0.24
70	11.58	15.92	6.25	6.05	3.61	2.82	0.25	0.17	0.22
84	9.53	16.14	6.49	5.90	3.75	2.94	0.25	0.17	0.22
98	7.26	16.89	6.90	5.92	4.07	3.22	0.29	0.15	0.23
112	8.85	16.43	6.60	5.88	3.72	2.91	0.26	0.16	0.23
133	7.95	17.11	7.12	5.90	3.85	3.02	0.26	0.17	0.24
154	9.76	16.80	7.07	5.83	3.91	3.06	0.38	0.18	0.23
175	8.17	16.81	7.32	5.65	3.84	3.01	0.29	0.17	0.21

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
196	8.17	16.59	7.18	5.66	3.75	2.94	0.29	0.17	0.20
217	6.24	16.73	7.17	5.69	3.85	3.03	0.29	0.18	0.19
238	6.13	16.99	7.17	5.79	4.03	3.17	0.30	0.18	0.20
252	3.63	17.31	7.41	5.88	4.00	3.19	0.30	0.17	0.21
266	4.54	17.32	7.45	5.76	4.11	3.25	0.31	0.18	0.21
280	5.45	17.72	7.81	5.80	4.11	3.25	0.33	0.17	0.20
301	4.99	17.64	7.89	5.67	4.07	3.22	0.32	0.18	0.19
315	4.54	17.77	8.15	5.45	4.16	3.26	0.33	0.19	0.21
329	2.72	17.86	8.12	5.53	4.21	3.32	0.33	0.19	0.21
343	4.09	17.85	8.20	5.40	4.16	3.25	0.33	0.23	0.20
357	1.14	18.44	8.50	5.40	5.54	3.50	0.36	0.32	0.21
315 (औसत)	7.65	16.73	7.02	5.78	3.94	3.09	0.28	0.19	0.21

घोष एवं अनंतकृष्णनन (1964)

सारणी-10.5 विभिन्न पशुओं के दूध का संघटन (प्रतिशत)

पशु	कुल ठोस	वसा	प्रोटीन	कार्बोहाइड्रेट	भस्म	संदर्भ
घोड़ी	–	1.09	1.89	6.55	0.31	सिंह (1958)
गधी	–	1.00	1.70	6.80	0.45	सिंह (1958)
खच्चर	–	1.59	1.64	4.80	0.38	सिंह (1958)
बिल्ली	–	3.33	9.08	4.91	0.58	सिंह (1958)
कुतिया	–	9.57	11.15	3.09	0.73	सिंह (1958)
भैंस	15.75	6.56	3.89	5.23	0.84	राजौरिया (1988)
गाय	13.34	4.65	3.38	4.91	0.77	राजौरिया (1988)
बकरी	13.50	4.50	3.80	4.68	0.52	राजौरिया (1988)
भेड़	16.30	6.04	4.85	4.99	0.52	राजौरिया (1988)
मानव	12.13	3.50	1.98	6.50	0.15	राजौरिया (1988)

जाती है जो कि ब्यांत के 3–4 दिनों में तीव्रता से गिर जाती है और 7–8 दिनों पर सामान्य स्तर पर पहुंच जाती है।

खनिज

अनेक विद्धानों (मान, 1912, आचार्य एवं देवदत्ता, 1939; बाल एवं मिश्रा, 1939 और मेमोन, 1942) ने ज्ञात किया कि भैंस के दूध में 0.70 से 0.90 प्रतिशत खनिज पाये जाते हैं। भारतीय मुर्रा भैंसों के दूध में 0.44 से 1.20 प्रतिशत तथा औसतल 0.78 प्रतिशत खनिज पाये गये हैं। भैंस के दूध में कैल्सियम एवं फास्फोरस की मात्रा गाय के दूध की अपेक्षा अधिक होती है। अनन्त कृष्णनन, आदि (1943) के अनुसार, भैंस के दूध में औसतन 0.163 प्रतिशत कैल्सियम एवं 0.101 प्रतिशत फॉस्फोरस पाया गया। शरारा (1956) ने मिस्री भैंसों में दोनों ही तत्वों (कैल्सियम 0.224, फॉस्फोरस, 0.122 प्रतिशत) को अधिक पाया। एलसालाम एवं एल–शिबिनी (1966) ने ज्ञात किया कि ब्यांत के प्रारंभ एवं अंत दोनों ही परिस्थितियों में कुल फॉस्फोरस की मात्रा अधिक होती है। डेवीज (1951) के अनुसार, ब्यांत का दूध के मैग्नीशियम मान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। ब्यांत के प्रारंभ से अंत की ओर दूध के सोडियम एवं क्लोराइड तत्वों में वृद्धि पाई गई है। सिनेडर, आदि (1948) ने भारतीय भैंसों में क्लोराइड की मात्रा 0.0655 प्रतिशत और इसी के समान इस तत्व की 0.0694 प्रतिशत मात्रा रागब, आदि (1958) ने मिस्री भैंसों में बतलाई। ग्रीष्म में बच्चा जनन करने वाली भैंसों के दूध में क्लोराइड मान में वृद्धि पाई गई। इसके विपरीत ग्रीष्म ऋतु में बच्चा जनन करने वाली भैंसों में यह दशा विशेष कर अक्टूबर के पश्चात गिरते ताप के साथ, विपरीत पाई गई। इसी प्रकार के परिणाम हरमान (1938), डेवीज (1938), डेवीज, आदि (1947) और हेमन्ड (1954) ने भी प्राप्त किये।

सूक्ष्म पोषक तत्वों में तांबा, जस्ता, लोहा, एल्युमीनियम, मैंगनीज और आयोडीन भैंस के दूध में पाये गये हैं। एल–सालाम (1968) ने 116–414 माइक्रोग्राम तांबा, 140–1000 माइक्रोग्राम जस्ता और 58–481 माइक्रोग्राम लोहा मिस्री भैंसों के प्रति लिटर दूध में प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त कोबाल्ट की मात्रा 7.2 माइक्रोग्राम प्रति लिटर और आयोडीन 0.034 भाग प्रति मिलियन पाई गई है।

ज्ञात हुआ है कि पशु की प्रकृति और वृद्धि की आवश्यकता के अनुरूप दूध का संघटन परिवर्तित होता है। इसलिए एक ही पशु के दूध के संबंध में संतान की वृद्धि की आवश्यकता तथा ब्यांत की अवस्था के अनुसार भिन्नता पाई गई है। सामान्यतः प्रोटीन, खनिज एवं फॉस्फोरिक अम्ल का सन्तान की वृद्धि से सीधा संबंध होता है। जितनी ही वृद्धि होगी, दूध में इन तत्वों की उतनी की अधिक मात्रा उपस्थित होगी।

विभिन्न पशुओं के दूध का संघटन

अश्व वर्ग के पशुओं के दूध में तत्वों की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है और अन्य पशुओं के दूध में कार्बोहाइड्रेट (शर्करा) की मात्रा अधिक पाई जाती है। रोमन्थी पशुओं के दूध में प्रोटीन तथा वसा की मात्रा स्पष्टतः अधिक पाई जाती है। मांसभक्षी (कार्नीवोरा) और कृतंकों (रोडेन्टस) के दूधों में प्रोटीन अधिक तथा कार्बोहाइडोट की कम मात्रा होती है।

विभिन्न देशों की भैंसों के दूध के संघटनों में भी महत्वपूर्ण भिन्नता पाई गई है जैसा कि सारणी 10.6 से स्पष्ट है।

सारणी-10.6 विभिन्न देशों की भैंसों के दूध का संघटन (प्रतिशत)

देश	कुल ठोस	वसा	प्रोटीन	कार्बोहाइड्रेट	भस्म
सोवियस संघ	18.00	8.00	4.32	4.96	0.84
मिस्र	16.40	6.37	3.87	5.00	0.79
इटली	10.86	7.22	3.95	4.88	--
भारत	17.58	7.06	4.65	5.48	0.78

गांगूली (1976)

इसी प्रकार राव एवं नागारसेंकर (1977) ने भी विभिन्न देशों की भैंसों की नस्लों का अध्ययन किया और उनका संघटन प्रकाशित किया है।

अखिल भारतीय समन्वित भैंस अनुसंधान केन्द्र (राष्ट्रीय डेयरी अनुसंधान संस्थान), करनाल पर अनेक वर्षों तक भैंस के दूध पर अन्वेषण किये गये और दूध का संघटन ज्ञात किया गया (सारणी–10.8)।

सारणी-10.7 भैंस के दूध के अवयव (प्रतिशत)

नस्ल	पानी	वसा	प्रोटीन	लैक्टोज	भस्म	वसा रहित ठोस
मिसी	82.09	7.96	4.16	4.86	0.78	9.95
चाइनीज	76.80	12.60	6.04	3.70	0.86	10.60
काराबाओज	78.46	10.35	5.98	4.32	0.84	11.19
रसियन	81.04	8.56	4.76	4.78	0.86	10.46
कौकेसिअन	82.66	7.58	4.05	5.00	0.71	9.76
रुमानियन	81.75	8.23	4.76	4.48	0.76	10.02
हंगेरियन	83.79	7.22	3.65	4.56	0.78	8.99
बुल्गेरियन	82.56	7.50	4.33	4.80	0.81	9.94
इटेलियन	81.94	7.85	4.28	4.97	0.75	10.21
बुल्गेरियन मुर्रा	81.80	8.03	4.51	4.75	4.75	10.17
भारतीय मुर्रा	2.76	7.38	3.60	5.48	0.78	9.86

राव एवं नागारसंकर (1077)

सारणी-10.8 राष्ट्रीय डेयरी अनुसंधान संस्थान, करनाल के अनुसार दूध का संघटन (प्रतिशत)

वर्ष	वसा	प्रोटीन	वसा रहित ठोस
1980	7.86	4.25	11.52
1981	7.74	4.22	11.33
1982	7.38	4.43	11.09
1983	7.51	4.48	10.97
1984	7.70	4.52	10.13
औसत	7.54	4.43	11.13

चीन में स्थानीय संकर मुर्रा तथा नीली–रावी नस्ल की भैंसों के दूध का संघटन ज्ञात किया गया है। योंगजुओकिस आओ (1988) के अनुसार इस देश की भैंसों के दूध का संघटन सारणी 10.9 में प्रदर्शित हैं।

सारणी 10.9 चीन में भैंसों की विभिन्न नस्लों के दूध का संघटन (प्रतिशत)

नस्ल	कुल ठोस	वसा	प्रोटीन	कार्बोहाइड्रेट
मुर्रा	20.11	8.50	5.15	5.55
नीली–रावी	18.87	7.94	4.90	4.53
मुर्रा x स्थानीय	18.95	8.11	4.71	5.01
नीली x स्थानीय	16.20	6.66	4.17	4.64
मि. संकर	17.65	7.19	4.30	4.64
ग्वान्डोंग	21.28	10.81	5.26	4.83
ग्वान्थी	21.79	11.67	5.56	4.28
सिचुआन	21.67	9.57	5.90	5.22
झेजिआन्ग	18.70	9.90	4.50	3.80

हमारे देश के विभिन्न भागों में वैज्ञानिकों ने प्राचीन समय से ही भैंस के दूध पर अन्वेषण कार्य किये हैं और उनके अनुसार समय–समय पर दूध संघटन पर प्रकाशित आकड़ें सारणी 10.10 में प्रदर्शित हैं।

सारणी-10.10 विभिन्न वैज्ञानिकों के अनुसार दूध का संघटन (प्रतिशत)

दूध अवयव	स्नीडर आदि (1948)	सेन एवं दस्तूर (1951)	सिंह (1958)	कुरार (1977)	मल्लिका जुंनपा (1981)	दहिया आदि (1990)
कुल ठोस	16.32	17.24	17.05	16.77	16.92	16.28
वसा	6.71	7.38	7.39	6.91	6.33	6.97
प्रोटीन	4.52	3.60	3.88	3.62	4.33	4.28
कार्बोहाइड्रेट	4.45	5.48	4.73	–	–	4.60
भस्म	0.80	0.78	0.75	–	–	–

दूध पदार्थ बनाने की तकनीकी की दृष्टि से भैंस के दूध का रसायानिक संघटन

इस उद्देश्य से दूध के विभिन्न अवयवों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है।

प्रोटीन

गाय के दूध की अपेक्षा भैंस के दूध में कुल प्रोटीन, केसीन तथा 'हवे' प्रोटीन की अधिक मात्रा पाई जाती है। यद्यपि दोनों की दूधों में विभिन्न अवयवों के अनुपात मिलते–जुलते हैं तथापि कुल प्रोटीन का लगभग 80.0 प्रतिशत केसीन एवं 20.0 प्रतिशह 'हवे' प्रोटीन का अनुपात उच्च परन्तु केसीन कम पाया जाता है।

(i) केसीन

भैंस के दूध में लगभग संपूर्ण केसीन कणपुंज (मिसल) के रूप में पाई जाती है। गाय के दूध में केसीन 90–95 प्रतिशत मिसेल के रूप में और शेष सीरम में उपस्थित होती है। भैंस के दूध में मिसेल का आकार 80–250 नानो मीटर (एन एम) पाया जाता है। अधिकाधिक संख्या में इनका आकार 110–160 नानो मीटर होता है। भैंस के दूध की केसीन मिसेल के रासायनिक संघटन का अध्ययन अनेक वैज्ञानिकों ने किया है। इनके अनुसार इसमें नाइट्रोजन, कैल्सियम एवं फॉस्फोरस की सांद्रता क्रमशः 120.0, 3.5 एवं 4.5 प्रतिशत होती है।

(ii) 'हवे' प्रोटीन

भैंस के दूध में 'हवे' प्रोटीन का संघटन गाय की भांति ही है। भैंस के दूध का वीटा (बी) लैक्टोग्लोब्युलिन आनुवंशिक बहुरूपियापन प्रकट नहीं करता है। इसका अणु भार 38,500 डालटन है। अमीनो अम्लों के संघटन से प्राप्त मान से यह कुछ अधिक है। इसका पृष्ठ तनाव 40–45 डाइंस प्रति सेंटीमीटर है।

(ब) एल्फा-लैक्टलॅब्युमिन

भैंस तथा गाय के दूध में पाये जाने वाले एल्फा–लैक्टलब्युमिन में समानता पाई जाती है। दोनों में समान नाइट्रोजन, टाइरोसिन एवं ट्रिप्टोफैन की मात्रा पाई जाती है।

(स) इम्युनोग्लोब्यूलिन

इसकी सांद्रता सामान्य दूध की अपेक्षा खीस में अधिक पाई जाती है। भैंस के दूध एवं खीस में इसके चार रूप उदाहरणार्थ इम्युनोग्लोब्युलिन, जी–ए, इम्युनोग्लोब्युलिन ए–1, इम्युनोग्लोब्युलिन, ए–2 एवं इम्युनोग्लोब्युलिन–एम प्राप्य हैं।

(द) लैक्टोफिरीन

भैंस के दूध में इसकी मात्रा 0.320 मि.ग्रा. प्रति मि.लि. पाई गई है। गाय के दूध की अपेक्षा यह अत्यधिक है। भैंस की खीस में तो यह और भी अधिक (0.75 मि.ग्रा./मि.लि.) पाई गई है। इसका अणुभार 73,700–74,000 डालटन होता है।

भैंस के दूध में नाइट्रोजन के वितरण को सारणी 10.11 में दिखाया गया है।

सारणी 10.11 भैंस के दूध में नाइट्रोजन के विभिन्न रूपों का वितरण

नाइट्रोजन के रूप	नाइट्रोजन मि.ग्रा. प्रति 100 मि.लि.	कुल नाइट्रोजन का प्रतिशत	कुल प्रोटीन का प्रतिशत
कुल नाइट्रोजन	609.33	100.00	–
प्रोटीन नाइट्रोजन	573.67	94.15	100.00
केसीन नाइट्रोजन	460.67	76.60	80.30
एल्फा–लैक्टलब्युमिन	48.33	7.93	8.43
बीटा–लैक्टलब्युमिन	48.33	7.93	8.43
बीटा–लैक्टलब्युनिमन नाइट्रोजन	37.00	6.07	6.45
प्रोटिओज–पेप्टोन नाइट्रोजन	31.00	5.09	5.46
अप्रोटीन	35.00	5.74	–

सारणी-10.12 भैंस के दूध में प्रधान खनिज तत्व (मि.ग्रा./100 मि.लि.)

कैल्शियम	फॉस्फेट	मैगनीशियम	सोडियम	पोटेशियम	क्लोराइड	संदर्भ
176.30	93.99	18.41	–	–	75.99	सिंधु एवं रॉय (1973)
183.90	88.74	19.02	44.75	101.6	63.82	सिंधु एवं रॉय (1976)
194.20	95.90	18.62	–	–	–	तायल एवं सिंधु (1983)
180.26	–	29.94	57.28	119.75	–	सिंधु एवं रॉय (1978)
177.24	114.09	16.03	–	–	–	माथुर एवं सुजाता (1978)

सारणी-10.13 भैंस के दूध में सूक्ष्म मापी खनिज तत्व (भाग/मिलियन)

लोहा	तांबा	जस्ता	बोरॉन	सल्फर	आयोडीन	संदर्भ
2.4	0.21	6.5	–	–	–	माथुर एवं रॉय (1977)
–	–	–	1.45	–	–	माथुर एवं रॉय (1982)
1.3–1.94	–	4.96–5.9	0.91–1.36	157–314	–	माथुर एवं रॉय (1982)
–	2.59	–	–	286.0	–	माथुर एवं रॉय (1982)
–	2.59	–	–	–	–	सिन्हा, आदि (1982)
1.35–1.52	–	1.49	–	–	–	घोष, आदि (1972)
–	0.19–0.22	–	–	–	–	बरूआ, आदि (1985)
0.72–0.42	0.07–0.29	–	–	–	–	चन्द्रा, आदि (1975)

एंजाइम

दूध में अनेक प्रकार के एंजाइम पाये जाते हैं। दूध से लगभग 20 एंजाइम पृथक एवं शुद्ध किये गये तथा पहचाने गये हैं परंतु मात्र लाइपेज एल्केलाइन फॉस्फटेज एवं जेंथीन ऑक्सीडेजिज का ही विस्तार से अध्ययन किया गया है। इनमें से प्रत्येक का वर्णन किया जा रहा है।

1. लाइपेज

भैंस के दूध में गाय के दूध की अपेक्षा लगभग 2/3 सक्रियता होती है। खीस में इसकी सांद्रता कम होती है परन्तु ब्यांत के बढने के साथ यह भी बढ़ती जाती है। समांगीकरण (हामोजिनाइजेशन) से इस एंजाइम की क्रियाशीलता में वृद्धि होती है। विभिन्न तापों (0.5 एवं 37° सैल्सियम) पर भंडारण करने पर प्रारम्भ में क्रियाशीलता में वृद्धि होती है परन्तु आगे चलकर 0 एवं 5° सैल्सियम पर क्रियाशीलता में कमी पाई गई है। एंजाइम कार्यशीलता के लिए आवश्यक वांछित ताप 37° सैल्सियम एवं माध्यम 8.4–9.0 पी.एच. पाया गया है। दूध में एंजाइम भली–भांति वितरित होता है तथा मक्खनिया (वसा–रहित) दूध, क्रीम एवं छाछ (मट्ठा) में भी पाया गया है।

2. एल्कलाइन फॉस्फेटेज

भैंस के दूध में इसकी सक्रियता भी गाय के दूध की अपेक्षा 2/3 होती है। यद्यपि दूध की सभी अवस्थाओं में यह वितरित रहता है परन्तु क्रीम में अधिक क्रियाशील होता है। इसके लिए उचित पी.एच. 9.5 है। कैल्सियम, मैग्नीशियम तथा मैंगनीज से इसकी क्रियाशीलता में वृद्धि परंतु ई.डी.टी.ए. एवं एन.ई.एम. से कमी होती है।

3. जेंथीन ऑक्सीडेज

भैंस के दूध में इसकी सक्रियता गाय के दूध की भांति ही पाई गई है। कुछ विद्धानों ने गाय की अपेक्षा इसकी सक्रियता 2.26 एकक (यूनिट) कम आंकी है। खीस में इस एंजाइम की सक्रियता कम होती है परंतु ब्यांत के चौथे दिन तक वृद्धि करके पुनः 80 दिनों तक घटती है। प्रथम 5 दिनों तक गिरावट दर बहुत तीव्र होती है। ग्रीष्म ऋतु में जेंथीन ऑक्सीडेज की सक्रियता अधिकतम पाई गई है। दूध का भंडारण यदि 4–20° सैल्सियस पर किया जाए

तो प्रथम 24 घंटों में इस एंजाइन की सक्रियता में तीव्र वृद्धि होती है और इसके पश्चात 120 दिनों तक सक्रियता में गिरावट आती है। दूध का समांगीकरण करने पर तथा ताप उपचार (13°–50° सैल्सियस) से एंजाइम की क्रियाशीलता में वृद्धि परंतु उच्च ताप पर इसमें कमी आती है। इसकी सक्रियता का उचित ताप 60° सैल्सियस तथा माध्यम 8.5 पी.एच. है। एंजाइम का अणुभार 310,000 डालटन होता है।

अन्य एंजाइम

भैंस के दूध की प्रोटिएस (प्रोटीन अपघटन) सक्रियता गाय के दूध से थोड़ा अधिक होती है। इसके लिए उचित ताप 37° सैल्सियम तथा माध्यम 8.0 पी.एच. पाया गया है। भैंस के दूध में लाइसोजाइम (15.02 माइक्रोग्राम प्रति 100 मि.लि.), गाय के दूध की अपेक्षा (18.0 माइक्रोग्राम प्रति 100 मि. लि.) कम पाया जाता है। इसके लिए उचित माध्यम 10.0–7.5 पी.एच. तथा ताप 50–45° सैल्सियस और अणुभार क्रमशः 34,700–14,500 डाल्टन प्रधान एवं लघु अवस्थाओं में पाया गया है।

वसा

वसा में प्रमुख निम्नलिखित अवयव पाये जाते हैं।

(i) ग्लिसराइड्स

भैंस के दूध में वसा की अधिक मात्रा होने के कारण, इसमें ग्लिसराइड्स भी अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। तीन प्रकार के ग्लिसराइड्स (मोनो, डाई एवं ट्राई) गाय तथा भैंस के दूध में समान रूप से पाये जाते हैं। इनकी मात्रा क्रमशः 0.70, 4.1 एवं 95.0 प्रतिशत होती है।

(ii) असाबुनीकारक पदार्थ (अन्सेपोनीफियेवल मैटर)

गाय के दूध में ये पदार्थ (416–450 मि.ग्रा. प्रति 100 मि.लि.) भैंस के दूध (392–398 मि.ग्रा. प्रति 100 मि.लि.) की अपेक्षा अधिक पाये गये हैं। ग्रीष्म एवं शीत ऋतु की अपेक्षा बसंत ऋतु में ये पदार्थ अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

(iii) स्वतंत्र वसा अम्लें (फ्री फैटी एसिड्स)

अनेक विद्धानों (गाबा एवं जैन, 1973; सिंघल एवं जैन, 1973; टंडन, 1977; सिंह आदि 1979; राव एवं रामामूर्ति, 1985 और शर्मा एवं बिंदल, 1987) के अनुसार इस प्रकार के वसा अम्लों की मात्रा भैंस के दूध एवं घी में गाय की अपेक्षा कम पाई जाती है। मक्खनियां दूध में ये वसा अम्लें, सम्पूर्ण दूध की तुलना में अधिक पाई जाती है। दूध में खट्टास बढ़ने के साथ स्वतंत्र वसा अम्लों की मात्रा बढ़ती है। प्रथम तीन ब्यांतों तक दूध में स्वतंत्र वसा अम्लों की उच्च मात्रा होती है और इसके पश्चात छटवें ब्यांत तक यह घटती है। इसके पश्चात अगले ब्यांतों में इन अम्लों की मात्रा पुनः बढ़ती है।

(iv) कोलिस्ट्रॉल

भैंस के दूध में कोलिस्ट्रॉल तथा स्वतंत्र कोलिस्ट्रॉल की मात्रा क्रमशः 275 एवं 212 मि.ग्रा. प्रति 100 ग्राम पाई जाती है जो कि गाय के दूध से महत्वपूर्ण रूप से कम है। दूध में खटास आने तथा उसमें से वसा पृथक करने से उसमें कोलिस्ट्रॉल की मात्रा बढ़ती परंतु गर्म करने से घटती है। खीस में सामान्य दूध की अपेक्षा इसकी अधिक मात्रा पाई जाती है।

(v) फास्फोलिपिड्स

बालिग एवं बसु (1956) के मतानुसार भैंस के दूध में फास्फोलिपिड्स की मात्रा गाय की अपेक्षा अत्यधिक कम पाई जाती है। अतः भैंस के दूध से तैयार किये गये मक्खन एवं घी में फास्फोलिपिड्स की मात्रा गाय की अपेक्षा कम पाई जाती है।

लघु अवयव (माइनर कंपोनेंट्स)

भैंस की वसा में 8.29 माइक्रोग्राम/100 स्क्वालीन और 6.51 माइक्रोग्राम/ग्राम यूनीक्वीनोन होता है। भैंस के दूध की वसा में 3.1 माइक्रोग्राम/ग्राम ल्यूटिन एवं 82.7 माइक्रोग्राम/ग्राम लानोस्टिरोल पाया जाता है। भैंस के दूध में ईथर, एलकानोलानोस्टिरोल पाया जाता है। भैंस के दूध में ईथर, एलकानोल्स (इथनोल, मिथनोल एवं ब्युटानोल) की मात्रा भी गाय की वसा की अपेक्षा कम होती है।

वसा गोलिकाऐं (ग्लोब्यूल्स) एवं वसा झिल्ली (मेम्ब्रेन)

गाय की वसा गोलिकाओं से भैंस की वसा गोलिकाओं का आकार बड़ा (4.15–4.6 माइक्रो.मी.) पाया गया है। खीस में इनका आकार और भी बड़ा देखा गया है। वसा गोलिकाओं के आकार एवं संख्या पर ब्यांत की संख्या का प्रभाव पड़ता है। दूध को गर्म करने पर वसा गोलिकाओं का आकार बढ़ता है परन्तु संख्या घटती है। दूध से वसा पृथक करने का वसा गोलिकाओं के आकार पर महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता है। वसा गोलिकाओं की झिल्ली की लिपिड्स में उदासीन (न्यूट्रल) लिपिड्स में ट्राइग्लिसराइड्स का अनुपात कम परन्तु मॉनो एवं डाइग्लिसराइड्स कोलिस्ट्रॉल और स्वतंत्र वसा अम्लों (एफ. एफ.ए.) का अनुपात अधिक है। वसा गोलिकाओं के झिल्ली लिपिड्स में लंबी चैन वाली संतृप्त वसा अम्लों का अनुपात अधिक परंतु छोटी चैन एवं असंतृप्त वसा अम्लों का अपुपात कम होता है।

खनिज तत्व

भैंस के दूध में द्विसंयोजी धनायन (डाइवेलेंट केटाइंस) जैसे, कैल्शियम एवं मैग्नीशियम की मात्रा अधिक परन्तु एक संयोजी धनायन (मोनो वेलेंट केटाइंस) एवं ऋणायन (एनाइन्स) उदाहरणार्थ – सोडियम, पोटेशियम तथा क्लोराइड की मात्रा कम पाई जाती है। बहुसंयोजी ऋणायन (पोलीवेलेंट एनाइंस) उदाहरणार्थ – फॉस्फेट एवं साइट्रेट की मात्रा भैंस एवं गाय के दूध में समान होती है। सभी खनिज तत्वों की सान्द्रता (पोटेशियम को छोड़कर) खीस और देर ब्यांत के दूध में अधिक होती है। टी.बी. एवं थनैला (मेसटाइटिस) रोग से ग्रसित पशुओं के दूध में कैल्शियम एवं फॉस्फोरस की कम मात्रा मिलती है। सोडियम एवं पोटेशियम खनिजों की मात्रा शीत ऋतु में और वह भी गाभिन भैंसों के दूध में अधिक होती है। तापीय घात से दूध में कैल्सियम, सोडियम और पोटेशियम की मात्रा घटती है।

सूक्ष्म मापक तत्वों में, सामान्यतः लोहा, तांबा जस्ता, बोरॉन एवं सल्फर की मात्रा भैंस के दूध में थोड़ी अधिक पाई जाती है। ऋतुओं का इन तत्वों की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है। जनवरी से मार्च तक लोहा की अत्यधिक परन्तु सल्फर की न्यूनतम मात्रा पाई जाती है। दूसरी ओर, शीत ऋतु में अन्य ऋतुओं की अपेक्षा तांबा एवं जस्ता की मात्रा कम पाई जाती है। वर्षा ऋतु में बोरॉन की मात्रा कम परन्तु ग्रीष्म ऋतु में उच्च होती है। यद्यपि गाभिन भैंसों के दूध

में लोहे की अधिक मात्रा पाई गई है परंतु तांबे पर पशु के गाभिनपन का कोई प्रभाव नहीं देखा गया है।

सारणी संख्या 10.12 और 10.13 में भैंस के दूध में पाये गये प्रधान एवं सूक्ष्ममापी खनिज तत्वों को प्रदर्शित किया गया है।

विटामिंस

भैंस के दूध में पाये जाने वाले विटामिंस का वर्णन निम्न ढंग से किया जा सकता है।

विटामिन ए

भैंस के दूध एवं घी में विटामिन ए की मात्रा का अध्ययन अनेक वैज्ञानिकों (सेंखला एवं यादव, 1981, पाण्डया एवं पटेल, 1977, नारायणन एवं अनंतकृष्णनन, 1952 और सम्पास, आदि 1955) ने किया है। भैंस के दूध में विटामिन ए की मात्रा लगभग 340 अंतर्राष्ट्रीय यूनिट प्रति कि.ग्रा. पाई गई है जो कि गाय के दूध से अत्यधिक है परंतु भैंस के दूध में कैरोटिनोइड्स की कमी तथा उच्च वसा होने के कारण प्रति भार एकक पर विटामिन ए शक्ति (पोटेंसी) गाय की अपेक्षा कम है।

भैंसों में वर्षा ऋतु में ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा विटामिन ए अधिक मिलती है। भैंसों को बिनौला खिलाने पर दूध में इसकी मात्रा बढ़ती है। दूध को 150–200° सैल्सियस गर्म करने पर 2 घंटों तक विटिामिन ए की मात्रा उत्तरोतर घटती है।

टोकोफिरोल

भैंस के दूध में इसकी मात्रा 25.9 माइक्रोग्राम प्रति ग्राम प्रकाशित की गई है परंतु भैंस के दूध में वसा की अधिक मात्रा होने के कारण इसकी मात्रा गाय की अपेक्षा अधिक (334.21 माइक्रोग्राम प्रति कि.ग्रा.) होती है। खीस में सामान्य दूध की अपेक्षा अधिक टोकोफिरोल पाई जाती है।

एस्कोरबिक अम्ल

भैंस के दूध में इसकी मात्रा 25–30 मि.ग्रा. प्रति कि.ग्रा. प्रकाशित की गई है परन्तु हाल ही में पौल, आदि (1983) ने यह मान 22.8 मि.ग्रा. प्रति लिटर

बतलाया है। दूध को पाश्चुरीकृत करने और उबालने में विटामिन की मात्रा में 4–8 प्रतिशत कमी आती है परन्तु निर्जीवीकरण से इसमें लगभग 57 प्रतिशत कमी आती है।

'बी' समुदाय की विटामिंस

भैंस के दूध में इस समुदाय की विटामिंस की मात्रा, बोमान (1953) के अनुसार निम्नलिखित पाई गई है।

विटामिन का नाम	सान्द्रता (माइक्रो./मि.लि.)
थाइयामिन	0.5
राइबोफ्लाविन	1.02
निकोटेनिक अम्ल	2.60
बायोटिन	26.75
फोलिक अम्ल	0.13
पैन्टोथैनिक अम्ल	1.5
पाइरीडोक्सिन	3.85
पी–अमीनोबेन्जोइक अम्ल	26.75

भैंस के दूध की विटामिन बी–12 कुल सक्रियता 2.8–4.0 माइक्रो./मि. लि. पाई गई है जो कि गाय के दूध के समान है। दूध से दही बनाने और दूध को गर्म करने पर फोलिक अम्ल में गिरावट आती है।

रंजक पदार्थः (पिगमेंट्स)

निजीर्वीकृत क्रीम अथवा भंडारित भैंस के दूध से मक्खन बनाने पर इसमें हरापन लिए पीला रंग आ जाता है जो कि 'बाइलीवरडिन' रंजक के कारण होता है। इस रंजक में रासायनिक परिवर्तन से इसका परिवर्तन वाइलोसबिन में हो जाता है। सूरती भैंस के मक्खनिया दूध में 50.4 माइक्रो./मि.लि. बाइलीवरडिन पाया गया है।

यूरिया, यूरिक अम्ल एवं अमोनिया

भैंस के दूध में इनकी निम्नलिखित मात्रायें पाई गई हैं। मध्य ब्यांत में यूरिया की सांद्रता बढ़ जाती है।

पदार्थ का नाम	सान्द्रता (मि.ग्रा./100 मि.लि.)
यूरिया	(1) 24–25 (2) 17–22
यूरिक अम्ल	0.26
अमोनिया	0.73

दूध उत्पादन को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक

दूध की मात्रा एवं संघटन पर विभिन्न कारकों का प्रभाव पड़ता है। इन सभी कारकों का मुख्य रूप से पर्यावरण, आनुवंशिकी और प्रबंधन व्यवस्था से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष संबंध है। इनमें से प्रमुख कारकों का वर्णन निम्नलिखित है।

1. ऋतुओं का प्रभाव

घोष एवं अनन्तकृष्णनन (1963) के अनुसार भैंस के दूध में वसा की मात्रा वर्ष के विभिन्न महीनों में परिवर्तित होती रहती है और ग्रीष्म में सामान्यतः कम होती है। वसा की मात्रा शीत एवं ग्रीष्म ऋतुओं में क्रमशः 6.75 एवं 6.49 प्रतिशत पाई गई थी। वसा की मात्रा वर्षा ऋतु में अधिकतम ज्ञात की गई है। अनेक विद्वानों (डेवीज आदि, 1947; प्रोवन, 1949 एवं वैटे, आदि 1956) भी उक्त शोध से सहमत हैं। कुछ वैज्ञानिकों (राग्सडाले, आदि 1048, 1949, 1959, 1951; कोब्बले एवं हरमान, 1951 एवं बायूभी, 1951) ने बतलाया है कि भैंस के दूध में वसा की मात्रा परिवेश ताप पर निर्भर करती है और प्रति −12.2° सैल्सियम (10° फा.) ताप कम होने पर वसा की मात्रा में 0.2 प्रतिशत वृद्धि हो जाती है। अन्य विद्वानों (हीनेमान, 1947 एवं डेवीज, आदि 1947) ने इसी परिवेश ताप वृद्धि पर वसा की मात्रा में मात्र 0.1 प्रतिशत कमी प्रकाशित की है। इसी प्रकार (हेज, 1926) परिवेश ताप को 16.1 से −2.8° सैल्सियस कम करने पर 5.4–6.0 प्रतिशत तक वसा की मात्रा में वृद्धि देखी गई है।

संभवतः परिवेश ताप, आर्द्रता एवं आहार का सामूहिक प्रभाव दूध उत्पादन पर प्रड़ता है क्योंकि हमारे देश में ग्रीष्म ऋतु में हरे चारों की कमी हो जाती है (सारणी 10.14)।

सारणी-10.14 भैंस के दूध के संघटन पर ऋतुओं का प्रभाव

ऋतु	वसा प्रतिशत	प्रोटीन प्रतिशत	वसा रहित ठोस प्रतिशत
शीत	6.75	3.97	9.67
ग्रीष्म	6.46	3.88	9.67
दक्षिण–पश्चिम मानसून	7.09	3.87	9.54
उत्तर–पूर्व मानसून	6.81	3.95	9.66

घोष एवं अनन्तकृष्णनन (1963) के अनुसार भैंस के दूध का प्रोटीन जो कि ग्रीष्म और दक्षिण पश्चिम मानसून के समय क्रमशः 3.88 एवं 3.87 प्रतिशत था, उत्तर–पूर्व मानसून के समय 3.95 प्रतिशत तक बढ़ गया जबकि अधिकतम मान (3.97 प्रतिशत) शीत ऋतु में पाया गया। यह अंतर महत्वपूर्ण पाया गया।

घोष एवं अनन्तकृष्णनन (1963) के अनुसार प्रोटीन के विभिन्न अवयव भी ऋतुओं से प्रभावित होते हैं (सारणी 10.15)।

सारणी-10.15 भैंस के दूध के प्रोटीन अवयवों पर ऋतुओं का प्रभाव

ऋतु	केसीन (प्रतिशत)	एल्ब्यूमिन (प्रतिशत)	ग्लोब्युलिन (प्रतिशत)
दक्षिण–पश्चिमी मानसून	3.24	0.33	0.18
उत्तर–पूर्वी मानसून	3.19	0.36	0.16
शीत	3.20	0.36	0.17
ग्रीष्म	2.88	0.30	0.17

भैंस के दूध में अप्रैल के माह में न्यूनतम और सितम्बर में अधिकतम केसीन पाई गई थी। एल्ब्यूमिन की मात्रा में भी यह प्रवृत्ति देखी गई थी परन्तु

ग्लोब्यूलिन की न्यूनतम मात्रा (0.15 प्रतिशत) अक्टूबर में तथा अधिकतम (0.19 प्रतिशत) सितम्बर में पाई गई थी। विभिन्न ऋतुओं का प्रभाव भैंस के दूध की ग्लोब्युलिन की मात्रा पर महत्वपूर्ण नहीं था।

भौगोलिक स्थिति एवं ब्यांत की दशा जैसे कारकों के संबंध को पूर्ण रूप से अलग रखकर ऋतुओं का दूध संघटन पर प्रभाव का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। ताप, नमी एवं वर्षा में परिवर्तन से विभिन्न ऋतुओं में पशुओं के आहार में परिवर्तन होता है जिसका दूध संघटन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। दूबे एवं गुप्ता (1988) के अनुसार ऋतुओं के प्रभाव को सारणी 10.16 में प्रदर्शित किया गया है।

सारणी-10.16 भैंस के दूध संघटन पर ऋतुओं का प्रभाव

ऋतु का नाम	कुल ठोस (%)	वसा (%)	प्रोटीन (%)	लैक्टोज (%)	खनिज (%)
ग्रीष्म एवं वर्षा	16.70	7.30	4.16	4.43	0.74
शरद	15.87	7.00	3.58	4.52	0.77
देर शरद	16.25	6.31	3.55	4.27	0.78
शीत	15.88	6.58	3.84	4.58	0.80
बसंत	16.28	7.22	4.39	4.05	0.75
संपूर्ण	16.26	6.88	3.90	4.37	0.74

सारणी से स्पष्ट है कि अन्य अवयवों की अपेक्षा दूध में कुल ठोस पदार्थ पर ऋतुओं का कम प्रभाव पड़ता है। इस अध्ययन के अनुसार, ग्रीष्म ऋतु (अप्रैल से अगस्त) में, वसा एवं कुल ठोस के उच्च मान (7.30 एवं 16.7 प्रतिशत) प्राप्त हुए हैं। दूध में अधिकतम प्रोटीन (4.39 प्रतिशत) बसंत ऋतुओं में (फरवरी से अप्रैल) में और लैक्टोज (4.58 प्रतिशत) शीत ऋतु (दिसम्बर से फरवरी) में प्राप्त हुई है। निम्नतम वसा एवं प्रोटीन की मात्रा, देर शरद ऋतु (अक्टूबर से दिसम्बर) में और लैक्टोज एवं कुल ठोस क्रमशः बसंत (फरवरी–अप्रैल) तथा शरद (अगस्त–अक्टूबर) में पाया गया है।

2. स्तनों एवं अयन का आकार एवं आकृति

डेयरी पशु का मूल्य, उसकी उत्पादन क्षमता से आंका जाता है और उच्च उत्पादन वाले पशु को ही उत्तम माना जाता है। सैनी एवं गिल (1988) ने मुर्रा भैंसों के अयन तथा स्तनों के आकार एवं आकृति का उनके द्वारा उत्पादित दूध की मात्रा पर अध्ययन किया।

सारणी-10.7 दूध देने वाली भैंसों के अयन एवं स्तनों की माप

विशिष्टतायें	औसत माप
अयन की लंबाई (से.मी.)	58.6
अयन की चौड़ाई (से.मी.)	52.1
अयन की गहराई (से.मी.)	20.2
स्तनों की लंबाई (से.मी.)	
1. अगले स्तन	9.4
2. पिछले स्तन	10.5
स्तनों की गोलाई (से.मी.)	
1. अगले स्तन	10.9
2. पिछले स्तन	11.9
स्तनों के मध्य दूरी (से.मी.)	
1. अगले स्तन	12.1
2. पार्श्व स्तन	7.2
3. पिछले स्तन	6.8

पांचवें ब्यांत तक, अयन की लंबाई, चौड़ाई एवं गहराई में महत्वपूर्ण वृद्धि देखी गई है। इसके पश्चात निश्चित वृद्धि नहीं पाई गई अपितु अयन की लंबाई एवं गहराई में गिरावट आई। इसका कारण दूध उत्पादन घटने से अयन में संकुचन आ जाना हो सकता है। अयन की लंबाई का चौड़ाई से अधिक महत्व है परंतु गायों में इसके विपरीत है। सिंह एवं भटनागर (1977) के अनुसार स्तन की प्रति यूनिट लंबाई बढ़ने पर दूध उत्पादन में 93 ग्राम वृद्धि पाई गई है। इसी प्रकार अयन की प्रति यूनिट चौड़ाई बढ़ने से 100 दिन और परीक्षण दिन के दूध उत्पादन में क्रमशः 19.62 कि.ग्रा. तथा 190 ग्राम वृद्धि ज्ञात हुई

है। अग्रिम एवं पिछले स्तन लंबाई में चौथे ब्यांत तक वृद्धि करते हैं और इसके पश्चात इनमें महत्वपूर्ण वृद्धि नहीं पाई गई है। ये लंबाई क्रमशः 4.9 से 7. 8 से.मी. और 5.5 से 9.1 से.मी. पाई गई है (सक्सैना 1968; सिन्हा 1968; सिंधु, 1974 एवं साकोवा, 1980)। पिछले स्तनों की अपेक्षा अग्रिम स्तनों में 2 गुनी दूरी पाई गई है। सिंह एवं भटनागर (1977) ने स्पष्ट किया है कि स्तनों के मध्य की दूरी का दूध उत्पादन ज्ञात करने में विशेष महत्व है।

थाइरॉइड एवं प्रोलैक्टिन स्तर पर प्रभाव

दूध देने वाले पशुओं में ब्यांत को प्रारंभ करने तथा बनाये रखने के लिए एक महत्वपूर्ण हॉर्मोन के उत्तरदाई माना जाता है। यद्यपि गायों में प्रोलैक्टिन के बहाव स्तर और दूध उत्पादन में कोई स्थिर संबंध नहीं देखा गया है तथापि अनुसंधानों द्वारा ज्ञात किया गया है कि दूध उत्पादन के फलस्वरूप रक्त के सीरम में प्रोलैक्टिन का स्तर बढ़ गया और ब्यांत के 8वें सप्ताह में यह अधिकतम था। थाइरॉक्सिन सांद्रता दूध उत्पादन के विपरीत संबंधित पाई गई है और इसका स्राव ब्यांत के समय कम हो जाता है।

गलहोमा तथा साथियों (1988) ने मुर्रा भैंसों पर गहन अध्ययन किये जिसमें ब्यांत के 8–10 सप्ताह में फार्म की 15 भैंसों से 8 सप्ताह तक रक्त के नमूने एकत्रित किये गये। भैंसों को उनके दूध उत्पादन के आधार पर उच्च (9 कि.ग्रा. से अधिक), मध्यम (6.5–7.5 कि.ग्रा.) और निम्न (4.8–5.5 कि.ग्रा.) वर्गों में बांटा गया। रेडियोइम्मूनो ऐसे (आर.आई.ए.) तकनीकी द्वारा रक्त का विश्लेषण थाइरॉक्सीन, ट्राइयोडोथाइरॉनीन एवं प्रोलैक्टीन के लिए किया गया। इससे ज्ञात हुआ कि ब्यांत की विभिन्न दशाओं एवं उत्पादन के विभिन्न स्तर के पशुओं में प्रोलैक्टिन के स्तर में भिन्नता पाई जाती है। मुर्रा भैंसों के दूध उत्पादन स्तर एवं थाइरॉक्सिन स्राव में विपरीत संबंध पाये गये (सारणी 10.18)।

4. जैविक रूप से सक्रिय (बायोजेनिक) अमीनो का प्रभाव

कुछ पशुओं के ऊतकों में क्रमशः हिस्टीडीन, टाइरोसीन एवं ट्रप्टोफेन से कार्बोक्सिलहरण (डीकार्बोक्सीलेशन) क्रिया द्वारा क्रमशः हिस्टामीन, टाइरामीन एवं ट्रप्टामीन, जैविक रूप से सक्रिय अमीन उत्पन्न किये जाते हैं। हिस्टामीन के उच्च स्तर से पाचन संबंधी कठिनाईयां उत्पन्न हो जाती हैं।

सारणी-10.18 मुर्रा भैंस की विभिन्न उत्पादन अवस्थाओं में, थाइरॉक्सिन एवं प्रोलैक्टिन (नॉनोग्राम प्रति मि.लि.) का सीरम स्तर

विशिष्टतायें	समय (सप्ताह)							
	1	2	3	4	5	6	7	8
				ट्राइयोडोथाइरॉनीन				
उच्च दूध उत्पादक	0.43	0.39	0.40	0.59	1.83	1.95	0.89	1.18
मध्यम दूध उत्पादक	0.44	0.50	0.55	0.56	1.29	1.25	0.70	1.32
निम्न दूध उत्पादक	0.47	0.70	0.69	1.10	1.45	1.37	0.93	1.12
				थाइरॉक्सिन				
उच्च दूध उत्पादक	17.5	18.6	16.9	18.2	30.8	50.0	20.0	27.08
मध्यम दूध उत्पादक	14.7	19.0	24.2	18.0	27.1	39.6	18.8	25.9
निम्न दूध उत्पादक	24.25	23.5	25.5	25.4	34.4	47.1	32.6	40.2
				प्रोलैक्टिन				
उच्च दूध उत्पादक	675.0	775.0	660.0	553.0	607.5	–	–	–
मध्यम दूध उत्पादक	696.0	978.0	342.0	423.0	348.0	–	–	–
निम्न दूध उत्पादक	830.0	1087.0	427.8	1076.0	720.0	–	–	–

उदाहरणार्थ – लैक्टिक एसिडोसिस एवं निम्न दूध उत्पादन। शेष दो अमीनों के प्रभाव को पहचाना नहीं जा सका है। उच्च परिवेश ताप पर कार्बोस्लिहरण क्रिया बढ़ जाती है जिससे बायोजेनिक अमीनों का बहाव बढ़ जाता है, फलस्वरूप लैक्टोनेनिक वृद्धि एवं जनन संबंधी हार्मोन्स में गिरावट आती है परंतु दूसरी ओर इपिनेफ्रीन एवं नोरइपिनेफ्रीन का उत्पादन बढ़ जाता है, जिससे पशु की दैहिक क्रिया संबंधी कार्यों में विघ्न पड़ती है।

सिंह एवं साथी (1988) ने भैंसों पर विभिन्न ऋतुओं में दूध उत्पादन पर बायोजेनिक अमींस के प्रभावों का, तीसरे और चौथे ब्यांतों में 10 मुर्रा भैंसों पर अध्ययन किया। इसके लिए मासिक अंतराल पर रूमेन तरल (रूमेन लिकर), रक्त और दूध में हिस्टामीन, ट्राप्टामीन एवं टाइरामीन में होने वाले परिवर्तनों का एक वर्ष तक परीक्षण किया गया। प्राप्त परिणामों से ज्ञात होता है कि यद्यपि शीत ऋतु में परिवेश ताप 11.8 से 23.6° सैल्सियस तक पाया गया परंतु औसत दूध स्तर में समानता बनी रही। विभिन्न ऋतुओं में जैविक अमींस के स्तर में महत्वपूर्ण भिन्नता पाई गई। उत्तम गुणों वाले चारे प्राप्त होने पर शीत ऋतु में, उच्च उत्पादन वाली भैंसों में अधिक दूध उत्पादन पाया गया। रूमेन हिस्टामीन के उच्च स्तर वाली भैंसों में शीत ऋतु में अधिक दूध उत्पादन पाया गया है। परिसंचरण वाले बायोअमीन्स ग्रीष्म में अधिक परन्तु शीत ऋतु में कम पाये गये (सारणी 10.19) थे।

मांस उत्पादन

देश में भैंसों की बढ़ती संख्या से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस देश की जलवायु एवं सामाजिक ग्रामीण अर्थव्यवस्था भैंसों के अनुकूल है। वर्षों पूर्व इस देश में खाद्यान्न उत्पादन में 'हरित क्रांति' को सफलता प्राप्त हो चुकी है। इसके पश्चात् पशु–पालन के क्षेत्र में 'श्वेत क्रांति' की आव्हान किया गया तथा दूध उत्पादन में वृद्धि के प्रयास किये गये परन्तु अब समय आ गया है कि भैंस का उपयोग मांस उत्पादन के लिये भी किया जाना चाहिए। इसके साथ ही अब उच्च गुणवत्ता वाले मांस उत्पादन की दृष्टि से 'भैंस ब्रोइलर' उत्पादन की भी चर्चा प्रारंभ हो गई है। भैंसों की बड़ी संख्या के कारण मांस उत्पादन का भविष्य अत्यन्त उज्जवल दिखाई देता है।

लाल (1977) के अुनसार भारत में मांस प्रयोग करने वालों की संख्या कम नहीं है। बढ़ती शिक्षा एवं जीवन स्तर में सुधार के साथ ही मांस की मांग

सारणी-10.19 विभिन्न ऋतुओं में दूध उत्पादन तथा रूमेन एवं बहाव वाले बायोजेनिक अमीन्स का स्तर

विशिष्टतायें	ग्रीष्म	शीत
दूध उत्पादन (कि.ग्रा./दिन)	6.85 ± 0.19	7.18 ± 0.21
वसा (प्रतिशत)	6.97 ± 0.13	6.90 ± 0.12
बायोजेनिक अमीन्स (माइक्रोग्राम/मि.लि.)		
(अ) छना रूमेन तरल		
(1) हिस्टामीन	0.320 + 0.004	0.706 ± 0.006
(2) ट्रिप्टामीन	0.353 ± 0.001	0.263 ± 0.009
(3) टायरामीन	0.397 ± 0.008	0.351 ± 0.002
पी.एच.	7.24 ± 0.08	7.05 ± 0.06
रक्त		
(1) हिस्टामीन	0.226 ± 0.002	0.179 ± 0.004
(2) ट्रिप्टामीन	0.260 ± 0.001	0.168 ± 0.002
(3) टायरासीन	0.236 ± 0.002	0.150 ± 0.005
परिवेश ताप (o सैल्सियस)		
अधिकतम	36.77	25.40
न्यूनतम	22.50	9.27
वर्षा (मि.मी.)	50.00	0.00

सिंह आदि (1988)

में वृद्धि हुई। है। देखा गया है कि देश के अनेक भागों में जन्मोत्सव, विवाह एवं मृत्यु जैसे अवसरों पर अतिथियों को मांस की स्पेशल दावतें दी जाती हैं। विभिन्न त्योहारों, हिन्दुओं में दशहरा, सिक्खों में लोहड़ी, मुसलमानों में बकरीद और क्रिशचियन में ईस्टर एवं क्रिसमस के अवसरों पर मांस की मांग अत्यधिक बढ़ जाती है। हिन्दुओं में कुछ पूजाओं के अवसरों पर बकरों अथवा भैंसों के वध करने की प्रथा है, इनका मांस श्रद्धालुओं को प्रसार के रूप में बांटा जाता है।

विशेषज्ञों के मतानुसार एक व्यक्ति के आहार में प्रतिदिन लगभग 70 ग्राम प्रोटीन होना आवश्यक है जिसमें लगभग 25 प्रतिशत पशु प्रोटीन होना चाहिए परन्तु हमारे देश में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति मात्र 51 ग्राम प्रोटीन प्राप्त होती है जिसमें लगभग 6 ग्राम (12 प्रतिशत) ही पशु प्रोटीन है। विकसित देशों में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति लगभग 44 ग्राम पशु प्रोटीन प्राप्य है। अतः स्वास्थ्य की दृष्टि से मांस उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता है।

एशिया प्रशान्त महासागर क्षेत्र में मांस की मांग एवं आपूर्ति

विश्व के विकासशील देशों में, 1960–1970 के मध्य प्रति वर्ष 3.2 प्रतिशत मांस और 5.5 प्रतिशत अंडों की मांग में वृद्धि हुई। दशाब्दी 1970 के मध्य गोमांस एवं भैंस मांस की कुल खपत का 50 प्रतिशत सूअर तथा कुक्कुट मांस में प्रत्येक 18 प्रतिशत और 14 प्रतिशत भेड़–बकरियों का मांस था। वर्ष 1981–1985 में एशिया प्रशांत महासागर क्षेत्रों की अपेक्षा विकसित देशों में पशुधन उत्पादन में तीव्रता से वृद्धि हुई। वर्ष 1975–85 में इस क्षेत्र में कुल मांस उत्पादन में 5.8 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई परन्तु 1981–85 में वृद्धि दर इससे भी कम (4.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष) हुई है। इससे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में विकासशील देशों का निष्पादन (7.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष) उसी समय में विकसित देशों की अपेक्षा (मात्र 1.5 प्रतिशत) अधिक रहा है। विश्व के भैंस वाले विभिन्न देशों में भैंसों की वध दर एवं मांस उत्पादन सारणी 10.20 में प्रदर्शित है।

इस क्षेत्र के 24 विकासशील देशों में 1985 में गोमांस एवं भैंस मांस उत्पादन विकासशील देशों के कुल मांस उत्पादन का मात्र 5.8 प्रतिशत था परंतु तीन विकसित देशों के लिए यह आंकड़ा उनके कुल मांस उत्पादन का 32 प्रतिशत था। एशिया प्रशांत महासागर देशों की गोमांस एवं भैंस मांस उत्पादन की दर 1975–85 में इस क्षेत्र में कुल मांस उत्पादन में 5.8 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई परंतु 1981–85 में वृद्धि दर इससे भी कम (4.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष) हुई है। इससे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में विकासशील देशों का निष्पादन (7.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष) उसी समय में विकसित देशों की अपेक्षा (मात्र 1.5 प्रतिशत) अधिक रहा है। विश्व के भैंस वाले विभिन्न देशों में भैंसों की वध दर एवं मांस उत्पादन सारणी 10.20 में प्रदर्शित है।

इस क्षेत्र के 24 विकासशील देशों में 1985 में गोमांस एवं भैंस मांस उत्पादन विकासशील देशों के कुल मांस उत्पादन का मात्र 5.8 प्रतिशत था

सारणी-10.20 प्रमुख भैंस वाले देशों में भैंसों की वध दर एवं मांस उत्पादन

देश	वध किये गये पशुओं की संख्या (1000 हेड्स)	वध दर प्रतिशत	शव भार (कि.ग्रा./ पशु)	मांस उत्पादन (1000 मि.टन)	कुल मांस में भैंस के मांस का अनुपात (%)
भारत	980	1.52	138	135	13.03
चीन	1,125	5.77	110	135	0.06
पाकिस्तान	2,450	18.75	100	245	24.18
थाइलैण्ड	288	4.60	253	73	9.96
नेपाल	175	3.89	130	23	28.40
पिलिपाइंस	289	6.67	158	46	5.81
वियतनाम	350	12.50	215	75	8.43
मिस्र	970	40.09	142	138	23.12
इंडोनेशिया	221	9.13	160	35	6.37
बर्मा	118	5.62	170	20	6.69
बंगला देश	21	1.17	99	2	0.67
लाओस	125	10.42	127	1	6.69
टर्की	105	13.85	200	21	2.32
मलेशिया	37	14.23	181	23	9.05
ईरान	66	28.70	150	3	1.30
ईराक	20	13.79	150	8	3.20
विश्व	7,461	5.77	135	1006	6.79

एफ.ए.ओ. (1985)

परन्तु तीन विकसित देशों के लिए यह आंकड़ा उनके कुल मांस उत्पादन का 32 प्रतिशत था। एशिया प्रशान्त महासागर देशों की गोमांस एवं भैंस मांस उत्पादन की दर 1975–85 में 3.1 प्रतिशत थी, जो कि विकसित देशों की 1.8 प्रतिशत दर से अधिक थी। अर्द्धशताब्दी (1981–85) में इन मांसों के उत्पादन की दर 5.4 प्रतिशत पाई गई जबकि विकसित देशों की यह दर 2.3 प्रतिशत ऋणात्मक थी।

एशिया प्रशान्त महासागर क्षेत्र में भैंसों के मांस का उत्पादन विश्व के कुल 1.02 मिलियन टनों में से 0.8 मिलियन टन है जो कि लगभग 82.0 प्रतिशत है। दशाब्दी 1975–85 में इस क्षेत्र की मांस उत्पादन की दर 3.8 प्रतिशत थी जबकि विश्व के शेष देशों की यह दर मात्र 1.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष पाई गई थी। वर्तमान वर्षों में बर्मा, चीन, भारत, इंडोनेशिया, नेपाल, लाओस, पाकिस्तान, थाइलैण्ड एवं वियतनाम देशों में भैंस के मांस उत्पादन में वृद्धि हुई है और यह उत्पादन विश्व के कुल उत्पादन का 97 प्रतिशत तक पाया गया है। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में मांस उत्पादन सारणी 10.21 में प्रदर्शित है।

सारणी-10.21 कुल मांस उत्पादन (मिलियन, मैट्रिक टन) प्रति पशु औसत मांस उत्पादन एवं प्रति पशु शव उत्पादन (कि.ग्रा.)

क्षेत्र	1970	1986
कुल मांस उत्पादन		
यूरोप	0.015	0.012
निकट पूर्व	0.13	0.18
एशिया एवं प्रशांत महासागर	0.53	0.53
कुल	0.67	1.14
प्रति पशु औसत मांस उत्पादन (कि.ग्रा.)		
यूरोप	56	50
निकट पूर्व	34	52
एशिया एवं प्रशांत महासागर	5	7
प्रति वध किये गये पशु औसत शव उत्पादन (कि.ग्रा.)		
यूरोप	167	206
निकट पूर्व	132	149
एशिया एवं प्रशांत महासागर	152	161

जासिओरोवस्की (1988)

भारत में भैंस के मांस उत्पादन की स्थिति

देश में 1971 से 1979 के मध्य मांस उत्पादन में 0.72 मिलियन टन से 0.865 मिलियन टन (20.41 प्रतिशत) की वृद्धि हुई है। अनुमान लगाया गया है कि 2000 में देश में 1.6–2.1 मिलियन टन मांस की आवश्यकता होगी। देश में मांस के कुल उत्पादन का लगभग 14.0 प्रतिशत भेड़ों से, लगभग 32. 0 प्रतिशत बकरियों से, लगभग 14.0 प्रतिशत भैंसों से, लगभग 12.0 प्रतिशत कुक्कुटों से लगभग 8.0 प्रतिशत गोवंश से और लगभग 8.0 प्रतिशत सुअरों से प्राप्त होता है। विश्व के विकसित देशों में गोवंश एवं भैंसों की वध दर क्रमशः 30–40 प्रतिशत है परंतु भारत में यह दर मात्र 0.5 एवं 1.4 प्रतिशत है।

अनेक दक्षिणी पूर्वी एशिया एवं पश्चिम एशिया के देशों में भैंसों को सामान्यतः मांस उत्पादन के लिए ही पाला जाता है परंतु भारत में दूध देना बंद करने (ब्यांत के अंत में) पर ही इसे मांस के काम लाया जाता है। देश के महानगरों में दुधारू भैंसों को मूलतः दूध उत्पादन के लिए ले जाया जाता है परंतु दूध उत्पादन बंद होने पर उन्हें वधशालाओं में भेज दिया जाता है। उच्च गुणवत्ता वाले मांस के लिए पशुओं को बचपन से ही पाला जाना चाहिए।

वैज्ञानिक विधि से अध्ययन करने के लिए आवश्यक है कि भैंस के शावकों की शारीरिक वृद्धि की अवस्था को दो अवस्थाओं 1. वृद्धि एवं 2. मोटापन में बांटा जाए। प्रथम अवस्था में लगभग 500 ग्राम वृद्धि दर पाई गई है परंतु द्वितीय अवस्था में 920 ग्राम प्रतिदिन वृद्धि दर मुर्रा नस्ल में प्राप्त की गई है।

भैंसों में दैनिक वृद्धि दर

भारत में युवा नरों (कटड़ों) पर किये गये अध्ययनों से ज्ञात होता है कि 1.5–2.0 वर्ष की आयु में जिन पशुओं को मोरिसन द्वारा संस्तुत पौष्टिक तत्व दिये गये, वृद्धि दर 490 ग्राम प्रतिदिन पाई गई थी (इच्छपोनानी एवं सिद्धु, 1966)। परंतु इन तत्वों की मात्रा 25 प्रतिशत कम कर देने से वृद्धि दर में गिरावट आई और यह मात्र 360 ग्राम प्रतिदिन रह गई। हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों (राठी एवं यादव, 1971) ने 7 माह की आयु के भैंस के युवा नरों को तीन समूहों में बांट कर क्रमशः मोरिसन द्वारा सुझाये गये, 20 एवं 40 प्रतिशत अधिक पौष्टिक तत्व प्रदान किये तो ज्ञात हुआ कि इनकी वृद्धि दर 535, 550 एवं 470 ग्राम प्रतिदिन थी जिसमें महत्वपूर्ण अंतर

नहीं था। शर्मा (1974) ने 5–6 माह की आयु में भैंस के कटड़ों पर अनुसंधान कार्य किया। उन्हें भूसा, हरी जई और दाना मिश्रण से बने आहार के द्वारा विभिन्न स्तरों के पौष्टिक तत्व (एन.आर.सी., 1968 के अनुसार 80, 100, 120 एवं 140 प्रतिशत ऊर्जा) प्रदान करके ज्ञात किया कि संस्तुति की गई मात्रा से 20 प्रतिशत अधिक ऊर्जा देने से सर्वोत्तम वृद्धि पाई गई। रंजन (1983) ने परीक्षणों में देशी भैंस के कटड़ों को 6 विभिन्न समूहों में बांट कर ऊर्जा तथा प्रोटीन के विभिन्न स्तर (3 स्तर ऊर्जा x 2 स्तर प्रोटीन) प्रदान करने से उनकी वृद्धि दर 469 ± 10.5, 538 ± 18.85, 557 ± 9.96, 516 ± 23.58, 559 ± 34.94 एवं 607 ± 19.36 ग्राम प्रतिदिन प्रति पशु प्राप्त की।

अधिकतम ऊर्जा प्राप्त करने वाले पशुओं में उच्चतम वृद्धि दर देखी गई थी। सेंगर आदि (1988) ने देशी भैंसों के नर (कटड़ों) पर अनुसंधान किये, इन पशुओं को तीन समूहों में बांट कर एन.आर.सी. (1976) द्वारा सुझाए गये प्रोटीन के तीन स्तर (100, 80 एवं 60 प्रतिशत) परंतु ऊर्जा की समुचित मात्रा समान रूप से प्रदान की गई थी। वृद्धि की तीन अवस्थाओं में तीन समूहों में वृद्धि दर क्रमशः 518.67 ± 25.35, 507.33 ± 31.92, 553.20 ± 41.13 ग्राम प्रथम अवस्था में, 521.43 ± 27.04, 497.62 ± 12.99 और 582.15 ± 13.57 ग्राम, द्वितीय अवस्था में एवं 507.65 ± 45.79, 489.30 ± 65.01 और 568.81 ± 18.37 ग्राम प्रतिदिन प्रति पशु वृद्धि दर तृतीय अवस्था में पाई गई थी। इन अध्ययनों से महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला गया कि अधिक प्रोटीन प्रदान करने से कोई अतिरिक्त लाभ नहीं है, मात्र 66.0 प्रतिशत प्रोटीन से तुलनात्मक वृद्धि दर प्राप्त की जा सकती है और 34 प्रतिशत प्रोटीन की बचत की जा सकती है।

दूध एवं मांस उत्पादन करने वाली मिस्री कंपनी ने एक हजार नर कटड़ों को दो समूहों में बांट कर दो प्रकार के आहार पशुओं को प्रदान किये। प्रथम समूह में पीली मक्का (साबुत), प्रोटीन पूरक (छिलका रहित बिनौले का चूरा, 40 प्रतिशत अलसी का चूरा, 20 प्रतिशत चावल का चोकर 14 प्रतिशत एवं गेहूं का चोकर 22 प्रतिशत) और धान का पुआल खिलाया गया। दूसरे समूह में दाना मिश्रण (छिलका रहित बिनौले का चूरा 25 प्रतिशत, गेहूं का चोकर 49 प्रतिशत, मक्का 19 प्रतिशत एवं शीरा 4 प्रतिशत) धान का पुआल और बरसीम की 'हे' भी खिलाई गई। दोनों ही समूहों में खनिज तथा विटामिन प्रदान किये गये। समूह 1 में, 2 की अपेक्षा अधिक वृद्धि (सारणी 10.22) प्राप्त की गई।

सारणी-10.22 विभिन्न समूहों में विभिन्न आहारों का दैनिक भार वृद्धि पर प्रभाव

विशिष्टतायें	समूह–1	समूह–2
औसत प्रारंभिक भार (कि.ग्रा.)	340.8	342.6
औसत अंतिम भार (कि.ग्रा.)	440.4	433.6
औसत कुल भार वृद्धि (कि.ग्रा.)	99.6	91.1
औसत दैनिक भार वृद्धि (ग्राम)	830	759

एक अन्य अध्ययन में दूध एवं मांस उत्पादन करने वाली मिस्री कंपनी ने उच्च ऊर्जा आहार पद्धति को प्रचलित आहार पद्धति से तुलना करने के लिए 392 नर कटड़ों को 6 समूहों में वितरित करके प्रयोग किये। नियंत्रित समूह में प्रचलित दाना मिश्रण (58 प्रतिशत स्टार्च तुल्यांक एवं 9 प्रतिशत पाचनशील प्रोटीन), 'हे' और धान का पुआल खिलाया गया। प्रयोग वाले समूह में पीला मक्का (साबुत) के साथ प्रोटीन पूरक (1.5–2.0 कि.ग्रा.) एवं धान का पुआल खिलाया गया। हल्के, मध्यम एवं भारी शरीर वाले पशुओं में 6 माह के अनुसंधान में दैनिक भार वृद्धि क्रमशः 834, 975 एवं 936 ग्राम थी जो कि नियंत्रित समूह से क्रमशः 28.3, 39.1 एवं 44.8 प्रतिशत अधिक थी। इसी प्रकार 9 माह के प्रयोग से ज्ञात हुआ कि इनकी दैनिक भार वृद्धि क्रमशः 856, 931 एवं 936 ग्राम प्रतिदिन थी। यह वृद्धि नियंत्रित समूह से क्रमशः 27.2, 30.9 एवं 37.00 प्रतिशत अधिक थी। श्रीवास्तव एवं होसमानी (1981) ने भैंस के नर (कटड़ों) पर अध्ययन करके ज्ञात किया कि फारमलडिहाइड से उपचारित सोयाबीन खिलाने से वृद्धि दर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। दैनिक वृद्धि दर जो कि नियंत्रित समूह में 404.00 ± 9.09 ग्राम प्रतिदिन थी, उपचारित सोयाबीन राशन के साथ खिलाने पर 470.00 ± 11.38 ग्राम प्रतिदिन हो गई।

शव (कार्कस) उत्पादन एवं गुणवत्ता

हमारे देश में मांस प्राप्त करने के लिए पशुओं को बहुत कम संख्या में पाला जाता है। महानगरों की वधशालाओं में ऐसे पशु वध किये जाते हैं जिन्होंने दूध उत्पादन करना बंद कर दिया है और जिनकी आर्थिक उपयोगिता नहीं है। इन पशुओं को प्रारंभ से ही मांस उत्पादन की दृष्टि से पौष्टिक तत्व प्रदान

सारणी-10.23 कुल पाचनशील तत्व (टी.डी.एन.) के तीन स्तरों पर रखे गये भैंस के नर (कटड़ों) के शव की गुणवत्ता

शव की विशिष्टतायें	कुल पाचनशील तत्वों का प्रतिशत		
	80	100	120
प्रतिदिन वृद्धि दर (ग्राम)	223	304	375
वध के समय भार (कि.ग्रा.)	201.8	241.8	272.3
शव का भार (कि.ग्रा.)	103.7	122.1	145.2
ड्रेसिंग प्रतिशत	51.0	50.5	53.3
शव की लंबाई (से.मी.)	110.5	116.2	118.0
भज्यनीय आंतरिक अंग (विस्सेरा) कि.ग्रा.	4.8	5.9	5.6
अभज्यनीय आंतरिक अंग (विस्सेरा) कि.ग्रा.	56.3	64.5	70.9
शरीर के विभिन्न कट्स एवं अन्य (कि.ग्रा.)			
कंधा	9.5	11.1	13.0
थोरेक्स	31.4	39.9	45.8
ल्वाइंस	16.0	18.9	22.4
जांघ (थाई)	13.7	15.3	19.5
वसा (कि.ग्रा.)	6.7	9.1	13.0
अस्थि (कि.ग्रा.)	28.1	33.3	38.8
मांस (कि.ग्रा.)	70.1	84.0	100.7
वसा : अस्थि : मांस	1:43:10.8	1:36:9.1	1:30:7.9

शर्मा तथा साथी (1979)

नहीं किये जाते हैं अतः इनके शव गुणवत्ता में युवा पशुओं की अपेक्षा निम्न स्तर के होते हैं। भारत में भैंसों के वध पर किसी प्रकार के धार्मिक प्रतिबंध नहीं हैं अतः इनके द्वारा मांस उत्पादन को बढ़ावा दिया जा सकता है। अफ्रीका एवं एशिया के अनेक देशों में भैंस के मांस की पर्याप्त खपत है और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इसकी अधिक मांग की जा रही है। विश्व के अनेक देशों में उदाहरणार्थ – आस्ट्रेलिया, यूगोस्लाविया, बुल्गेरिया, इटली, रोमानिया, भारत, मिस्र, सोवियत संघ में किये गये अन्वेषणों से ज्ञात हुआ है कि भैंसों से उच्च गुणवत्ता वाला कम लागत में मांस प्राप्त हो सकता है।

राष्ट्रीय अनुसंधान संस्थान, करनाल के अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि मुर्रा नस्ल की भैंसों के 22 माह के नरों से 202–291 कि.ग्रा. भार और 110–125 से.मी. लंबाई वाला शव प्राप्त किया जा सकता है (सारणी 10.23)।

ऊर्जा एवं प्रोटीन के विभिन्न स्तरों पर रखे गये कटड़ों को 300 कि. ग्रा. शारीरिक भार पर वध किया गया। इनका ड्रेसिंग प्रतिशत 55.4–59.0 पाया गया। इस पर आहार की पाचनशील प्रोटीन का कोई प्रभाव नहीं देखा गया था।

पड्डा, आदि (1986) के अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि भली–भांति आहार प्रदान कराये गये 300 कि.ग्रा. शारीरिक भार वाले युवा नरों में ड्रेसिंग प्रतिशत 50–58 पाया गया था। कुल मांस एवं अस्थियों का 70 प्रतिशत मांस, मांस तथा वसा का अनुपात 3.7 और औसत शव उत्पादन 46 प्रतिशत था। बहिष्कृत उत्पादों में 19.5 प्रतिशत भोजनीय तथा 34.5 प्रतिशत अभोज्यनीय थे। भैंसों में गोवंश मांस की अपेक्षा प्रोटीन मांस (लीन मीट) अधिक होता है।

सेंगर, आदि (1986) ने देशी नस्ल के नरों (कटड़ों) पर अन्वेषण करके ज्ञात किया कि उनमें अधिकतम ड्रेसिंग प्रतिशत 63.9 प्रतिशत पाई गई थी। लगभग 356 किलोग्राम शारीरिक भार पर पशुओं को वध करके पाया गया कि पृथक करने योग्य वसा का प्रतिशत अधिक आयु वाले पशुओं में अधिक होता है (सारणी 10.24)।

अनेक वैज्ञानिकों ने भैंस के युवा पशुओं को विभिन्न आयु पर वध करके, उनसे प्राप्त होने वाले शव का अध्ययन किया। आयु का ड्रेसिंग प्रतिशत पर प्रभाव को सारणी 10.25 में प्रदर्शित किया गया है।

सारणी-10.24 भैंस के नर बच्चों (कटड़ों) में प्रोटीन के स्तर का शव की गुणवत्ता पर प्रभाव

विशिष्टतायें	एन.आर.सी. (1976) के अनुरूप प्रोटीन स्तर		
	100	80	60
शव (कारकस) उत्पादन			
वध भार (कि.ग्रा.)	355.0	357.7	356.7
शव भार (कि.ग्रा.)	190.0	191.2	197.2
ड्रेसिंग प्रतिशत (रिक्त शरीर भार)	61.4	62.7	64.0
ल्वान आई क्षेत्रफल (से.मी.^{2})	52.6	39.9	48.5
भक्षणीय व्यर्थ का उत्पादन (कि.ग्रा.)	6.0	5.9	5.8
भक्षणीय व्यर्थ का प्रतिशत	4.7	1.6	1.6
अभक्षणीय व्यर्थ का उत्पादन (कि.ग्रा.)	80.4	79.2	77.7
अभक्षणीय व्यर्थ का प्रतिशत	22.7	22.1	21.8
शव (कारकस) संघटन			
मांस प्रतिशत	64.9	68.0	66.7
वसा प्रतिशत	14.7	11.8	12.8
अस्थियाँ प्रतिशत	19.3	19.6	20.0
उदर (ओमेंटल) वसा	3.5	4.1	4.3
पाचन नाल (चेनल) वसा	2.0	2.4	1.7
मांस + वसा /अस्थि अनुपात	4.1	4.1	4.0

सेंगर, आदि (1986)

सारणी-10.25 विभिन्न शारीरिक भार पर वध किये गये नर बच्चों (कटड़ों) के शरीर ढांचे के अवयव

वध के समय भार (कि.ग्रा.)	शरीर ढांचे का भार (कि.ग्रा.)	ड्रेसिंग (प्रतिशत)	मांस (प्रतिशत)	वसा (प्रतिशत)	अस्थियां (प्रतिशत)	संदर्भ
161	83	51.4	66.8	9.7	23.5	शर्मा एवं शर्मा (1985)
258	139	53.9	67.5	12.7	19.8	राष्ट्रीय डेयरी अ.सं. करनाल
356	193	62.8	66.7	12.9	19.7	अनजनेल्यू, आदि (1985)
446	239	53.6	69.0	13.1	17.9	एल–आसरी, आदि (1985)
260	141	55.5	67.0	12.0	18.0	चार्ल्स एवं ज्होन्सन (1972)
300	151	51.0	70.0	6.0	19.0	क्वीनलैण्ड
480	277	59.7	66.0	17.0	14.0	आस्ट्रेलिया

इबारा (1988) के अनुसार कारबाओं के विभिन्न कट्स गोवंश के अधिक समान होते हैं और ल्वाइन, शरीर ढांचे का लगभग 13.0 प्रतिशत पाया जाता है। शव के विभिन्न भाग–गोल (राउण्ड) फ्लैंक, चक, बिस्किट, अग्रशैंक, पसलियां और प्लेट संपूर्ण ढांचे का क्रमशः 24, 9.0, 27.0, 4.8, 6.4, 8.71 एवं 6.7 प्रतिशत पाये गये हैं। फिलीपाइंस में भैंसों के शवों में 68 प्रतिशत लीन, 9 प्रतिशत वसा और 19 प्रतिशत अस्थियां पाई गईं (सारणी 10.26–10.29) हैं।

सारणी-10.26 फिलीपाइन्स के भैंसों का लीन, वसा एवं अस्थि उत्पादन

विशिष्टतायें	वध के समय भार का प्रतिशत	शव का प्रतिशत
शरीर का पृष्ठ भाग (हाइंड क्वार्टर)	21.6	44.9
लीन	16.0	33.0
वसा	1.0	3.0
अस्थि	3.0	7.0
शरीर का अग्र भाग (फ्रंट क्वार्टर)	26.2	54.5
लीन	17.0	36.0
वसा	3.0	6.0
अस्थि	3.0	12.0
संपूर्ण शरीर ढांचा	47.7	–
लीन	33.0	68.0
वसा	4.0	9.0
अस्थि	9.0	19.0

इवरारा (1988)

सारणी-10.27 फिलीपाइन्स में भैंसों के वधशाला उत्पादोत्पाद

उत्पादोत्पाद	वधभार का (प्रतिशत)	उत्पादोत्पाद (प्रतिशत)	वध भार का (प्रतिशत)
रक्त	4.9	कान	0.2
यकृत	2.0	हाइड	9.5
हृदय	0.6	गाल का मांस	0.7
फेफड़े	0.9	मस्तिष्क	0.1
वृक्क	0.2	जिह्वा	0.3
तिल्ली	0.2	मजल मांस	0.3
पैर	2.0	हाम्स	0.4
पूंछ	0.3		
उदर	4.0		
अन्य	2.0		

इबरार (1988)

फ्लोरिडा विश्वविद्यालय के कारपेंटर (1988) ने भैंस के एक सांड़ एवं कारोलैस के शव पर अध्ययन कार्य किया जिनको 140 दिनों तक दाना मिश्रण खिलाया और 18 माह की आयु में वध किया। शव के विभिन्न गुण सारणी 10.32 में प्रदर्शित हैं।

विभिन्न नस्लों के भैंस के नरों (कटड़ों) का ड्रेसिंग प्रतिशत समय–समय पर विभिन्न वैज्ञानिकों ने ज्ञात किया (सारणी 10.30) है। लक्ष्मनन (1981) ने देशी नर (कटड़ों) के विभिन्न कट्स के उत्पादन को शव के तुलना में ज्ञात किया (सारणी 10.31) हैं।

मांस उत्पादन एवं गुणवत्ता

मांस की गुणवत्ता, मांस के भौतिक एवं रासायनिक गुणों पर निर्भर करती है। मांस को पकाते समय हानि, पानी धारण करने की क्षमता, सरसता एवं कोमलता आदि गुणों का मांस की गुणवत्ता से सीधा संबंध है।

सारणी-10.28 फिलीपाइन्स के भैंसों के विभिन्न थोक एवं फुटकर कट्स

विशिष्टतायें का प्रतिशत	वध वाले भार प्रतिशत	शरीर ढांचो का
ड्रेसिंग (प्रतिशत)	48.1	
गोल	11.4	24
रम्प रोस्ट	2.0	4.0
राउण्ड का हील	1.4	3.0
सिरल्वाइन टिप	1.1	2.0
राउण्ड स्टीक	5.2	11.0
क्रोस कट शैंक	1.1	2.0
ल्वाइन	6.0	13.0
क्लब स्टीक	0.5	1.0
टी–बोन स्टीक	2.0	4.0
पोर्टर हाउस स्ट्रीक	1.1	2.0
सिरल्वाइन स्टीक	3.8	8.0
फ्लैंक		
फ्लैंक स्टीक	0.8	2.0
फ्लैंक स्टीव	2.0	4.0
चक	13.3	27.0
इंगलिश कट	0.5	1.0
ओ–बोन रोस्ट	3.4	7.0
चक रोस्ट	6.6	14.0
नेक बोंस	2.5	5.0
ब्रिस्किट	2.3	4.8
फोरशैंक	3.1	6.4
फोर शैंक स्टीव	0.9	2.0
सूप स्टॉक	2.2	5.0
रिब्स	4.2	8.7
शोर्ट रिब्स	0.8	2.0
रिब रोस्ट	3.4	7.0
प्लेट	3.2	6.7
शोर्ट रिब्स	1.0	2.0
प्लेट स्टीव	1.9	4.0

इबारारा (1988)

26- -140/CSTT/ND/2K

सारणी-10.29 भैंस एवं कारोलैस के शवों का तुलनात्मक अध्ययन

विशिष्टतायें	भैंस	कारोलैस
जीवत भार (कि.ग्रा.)	363.8	422.8
उष्ण शव भार (कि.ग्रा.)	210.5	271.5
उष्ण शव उत्पादन (प्रतिशत)	57.86	64.22
ड्रेसिंग % (जीवित भार के आधार पर)	56.48	62.88
हृदय प्रतिशत (जीवित के आधार पर)	3.80	3.19
पैर प्रतिशत (जीवित भार के आधार पर)	2.24	2.15
चमड़ा प्रतिशत (जीवित भार के आधार पर)	10.16	7.46
सर प्रतिशत (जीवित भार के आधार पर)	0.37	0.32
यकृत प्रतिशत (जीवित भार के आधार पर)	1.25	1.23
जिव्हा प्रतिशत (जीवित भार के आधार पर)	0.31	0.38
आहार नलिका एवं इसके अन्य पदार्थ (जीवित भार के आधार पर)	16.58	12.29

कारपेन्टर (1988)

सारणी-10.30 विभिन्न नस्लों की भैंसों के नरों (कटड़ों) का ड्रेसिंग (प्रतिशत)

नस्ल	आयु (दिनों में)	वध के समय भार (कि.ग्रा.)	ड्रेसिंग (प्रतिशत)	संदर्भ
इराकी	575	335	48.40	कासिर, आदि (1969)
मुर्रा	466	374	54.67	ओग्नजानोविक, आदि (1970)
बुल्गेरियन	466	376	53.73	ओग्नजानेविक, आदि (1970)
मुर्रा x बुल्गेरियन	460	401	54.07	ओग्नजानेविक, आदि (1970)
आस्ट्रेलियन स्वाम्प	425	260	55.80	चार्ल्स एवं ज्होन्सन (1972)
	1460	480	59.70	चार्ल्स एवं ज्होन्सन (1972)
मुर्रा	336	204	49.70	मात्सुकाबा, आदि (1976)
मुर्रा	650	241	50.50	सर्मा, आदि (1979)
सूरती	545	–	50.90	पाण्डे एवं शुक्ला (1979)

सारणी-10.31 देशी नर (कटड़ों) के विभिन्न कट्स का उत्पादन

शरीर के भाग	भार (कि.ग्रा.)	शव का प्रतिशत
शरीर का अग्रिम भाग (फोर क्वार्टर)		
शैंक	8.82	5.14
वक्ष (ब्रस्टि)	5.50	3.20
चक	43.76	25.51
पसली (रिब)	16.06	9.36
शरीर का पृष्ठ भाग (हाइन्ड क्वार्टर)		
वृक्क	1.83	1.07
फ्लैंक	3.44	2.00
ल्वाइन	30.01	17.50
गोल (राउण्ड)	50.68	29.55

लक्ष्मनन (1981)

1. मांस का रासायनिक संघटन

भैंस के कंकाल की पेशी में संवेदनशील अमीनों अम्लों का संघटन, गोवंश से अधिक होता है। ट्रप्टोफेन एवं लाइसीन को छोड़कर कुल 16 अमीनों अम्लों की मात्रा प्रति ग्राम शुष्क मांस पर 835 मि.ग्रा. पाई गई है। गोवंश के लिए यह मात्रा मात्र 472 मि.ग्रा. तथा अफ्रीकन भैंस के लिए अधिकतम (979 मि. ग्रा. प्रति ग्राम शुष्क मांस) है। भैंस के मांस की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें वसा का निम्न अनुपात होता है। वसा ऊतक वृक्क (किडनी) के चारों ओर आंत्रों पर और उदर क्षेत्र में पाये जाते हैं परन्तु मांस में बहुत थोड़ी वसा होती है। भैंस के मांस की वसा में कैरोटिन न होने के कारण इसका रंग श्वेत होता है। भैंस के मांस का पेशी तन्तु (मसिल फाइबर) बड़ा होता है। विभिन्न मांस वाले पशुओं के मांस का संघटन सारणी 10.32 में प्रदर्शित किया गया है।

सारणी-10.32 विभिन्न प्रकार के मांसों का रासायनिक संघटन (प्रतिशत)

तत्व	भैंस का मांस (बफन)	गोमांस (बीफ)	बकरी का मांस (चोवन)	भेड़ का मांस (मटन)	सुअर का मांस (पोर्क)
पानी (नमी)	74.3	78.7	74.2	71.5	77.4
प्रोटीन	22.6	19.4	21.4	18.5	18.7
वसा	2.6	0.9	3.6	13.3	4.4
कैल्शियम (मि.ग्रा./100 ग्रा.)	10.0	3.0	12.0	150.0	30.0
फॉस्फोरस (मि.ग्रा./100 ग्रा.)	190.0	189.0	193.0	150.0	200.0

ओग्नजानोविक, आदि (1970) ने विभिन्न नस्लों की भैंसों के पेशी ऊतक के महत्वपूर्ण गुणों का अध्ययन किया (सारणी 10.33) है। शर्मा, आदि (1980) वैज्ञानिकों ने भैंस के शव के विभिन्न व्यापारिक कट्सों का संघटन (प्रतिशत) ज्ञात किया जो सारणी 10.34 में प्रदर्शित है।

सारणी-10.33 विभिन्न नस्लों की भैंसों के पेशी ऊतक (मसिल टिश्चयू) के गुण

ऊतक	बुल्गेरियन	मुर्रा	मु. x बुल्गे.
वसा (प्रतिशत)	1.36	0.64	1.04
मायग्लोबिन (प्रतिशत)	1.53	1.40	1.37
ऑक्सीप्रोलीन (प्रतिशत)	0.78	0.74	0.70
पेशी तन्तु व्यांत (म्यु.)	58.83	57.14	56.67

ओग्नजानोविक, आदि (1970)

सारणी-10.34 भैंस के शव के व्यापारिक कट्स का संघटन (प्रतिशत)

कट	नमी (पानी)	वसा	प्रोटीन	खनिज
ग्रीवा	76.47	2.72	18.22	0.98
कंधा	76.64	2.45	18.89	1.00
एफ–शैंक	77.01	2.73	19.90	0.94
पसली (रिब)	76.61	1.87	19.99	0.92
ल्वाइन	76.61	2.78	19.66	1.00
पैर (लैग)	77.79	2.77	19.74	1.00

शर्मा, आदि (1980)

फिलीपाइंस की भैंसों कारावाओस के लोन्गीसीमस डोरसाई में 1.03 प्रतिशत तक ग्लाइकोजन पाई जाती है। इसमें 20.0 प्रतिशत प्रोटीन 0.8 प्रतिशत वसा और 1.3 प्रतिशत खनिज पाये जाते हैं। फिलीपाइन्स भैंसों में अमीनो अम्लों का पार्श्व चित्र, गोमांस एवं सूअर के मांस से थोड़ा भिन्न पाया गया (सारणी 10.35) हैं।

सारणी-10.35 फिलीपाइंस भैंसों के अमीनो अम्ल एवं शरीर में इनकी आवश्यकता

अमीनो अम्ल	प्रोटीन का (प्रतिशत)	एफ.ए.ओ. के अनुरूप आवश्यकता (मि.ग्रा./दिन)
आइसोल्यूसीन	6.15	4.2
ल्यूसीन	11.89	4.8
लाइमीन	2.86	4.2
मिथियोनीन	2.50	2.2
सिस्टीन	सूक्ष्म	2.0
फिनाइलालानीन	4.33	2.8
टाइरोसीन	5.11	2.8
थ्रियोनीन	4.79	2.8
ट्रिप्टोफेन	सूक्ष्म	–
वालीन	7.35	4.2
आरजीनीन	5.00	–
हिस्टीडीन	3.41	–

गोंजाल्स, आदि (1973) एवं रामिरज (1978)

फिलीपाइन्स में आइसोल्युसीन, ल्युसीन, लाइसीन, फिनाइलालानीन, टाईरोसीन, थ्रियोनीन वालीन एवं हिस्टीडीन की अधिक परंतु ट्रिप्टोफेन, सिस्टीन एवं मिथियोनीन की मात्रा गोवंश के मांस से कम पाई गई है। शरीर की सभी अमीनो अम्लों (सिस्टीन के अतिरिक्त) की आपूर्ति 100 ग्राम काराबीफ के द्वारा की जा सकती है। फिलीपाइन्स में भैंसों के मांस एवं गोमांस में विटामिन एवं खनिजों में भी समानता पाई जाती है। विटामिन ए, नियासिन एवं फॉस्फोरस की मात्रा बीफ से अधिक होती है। विटामिन ए तो लगभग दो गुनी (सारणी 10.36) होती है। सारणी 10.37 में बाराबीफ, लीन तथा मांस उपजात का संघटन प्रदर्शित किया गया है।

सारणी-10.36 फिलीपाइंस में भैंसों के मांस में चयनित खनिज एवं विटामिन

खनिज/विटामिन	मात्रा
भस्म प्रतिशत	1.1
कैल्सियम, कि.ग्रा./ग्राम	31.0
फॉस्फोरस, मि.ग्रा./ग्राम	159.0
लोहा, मि.ग्रा./ग्राम	0.7
जस्ता (जिंक)	3.2
मैग्नीशियम, मि.ग्रा./ग्रा.	25.8
विटामिन ए, अंतर्राष्ट्रीय यूनिट	101.0
कैरोटीन	सूक्ष्म
थाइयामिन, मि.ग्रा./ग्राम	0.07
राइबोफ्लेविन, मि.ग्रा./ग्राम	0.41
नियासिन, मि.ग्रा./ग्राम	5.4

गोन्जाल्स, आदि (1973)

सारणी-10.37 फिलीपाइंस की भैंसों के लीन एवं मांस उपजात का संघटन (प्रतिशत)

भाग	नमी	कच्ची प्रोटीन	ईथरी निष्कर्ष	खनिज
लीन	77.3	20.6	0.8	1.3
यकृत	74.1	15.5	1.7	1.1
फेफड़े	79.2	18.6	1.4	0.8
वृक्क	82.1	14.0	1.8	1.0
बड़ी आंत	73.1	9.3	11.9	0.5
छोटी आंत	74.4	10.1	9.7	0.8
रक्त	80.4	18.6	–	0.8
ट्राइप	78.3	11.2	6.9	0.7
तिल्ली	76.0	21.2	1.5	1.3
हृदय	76.4	17.4	4.6	0.9
मस्तिष्क	77.2	9.4	10.1	1.4

एबदन, आदि (1980)

2. तकनीकी गुण

इन गुणों का मांस के संसाधन से सीधा संबंध होता है। फिलीपाइंस के भैंसों के मांस में मायोफाइब्रिलर प्रोटीन, मायोग्लोबिन, कुल रंजक (पिगमेंट), पानी धारण करने की क्षमता, प्रति ग्राम ऊतक तेल धारण करने की क्षमता अधिक पाई गई है। युवा कारावोस का मांस वृद्ध (कारावीफ) की अपेक्षा, तकनीकी दृष्टि से अधिक उपयुक्त होता है। भैंस एवं गोवंश के मांस की तुलना सारणी 10.38 में की गई है।

सारणी-10.38 भैंस एवं गोवंश के मांस की तुलना

लक्षण	भैंस	गोवंश
औसत शारीरिक भार (कि.ग्रा.)	367	351
वध उत्पादन (प्रतिशत)	49.3	47.5
अस्थि रहित मांस (शव भार का प्रतिशत)	75.1	75.6
नस रहित प्रथम क्वालिटी मांस (अस्थि रहित मांस का प्रतिशत)	20.0	19.4
प्रथम क्वालिटी मांस		
नमी (प्रतिशत)	76.2	76.0
प्रोटीन (प्रतिशत)	20.4	19.7
संयोगी ऊतकी की प्रोटीन (प्रतिशत)	1.1	0.9
ट्रिप्टोफेन:हाइड्रोक्सलीप्रोलीन	5.9	5.8
पी.एच. (pH) मान	5.82	5.65
पानी धारण करने की क्षमता (प्रतिशत)	59.80	57.60
रंग गहराई (582 एन.एम. पर)	1.44	1.23
शीयर फोर्स, किग्रा./से.मी.^{2}	2.16	2.39
पके हुए बाकू सासेज		
नमी (प्रतिशत)	65.1	65.6
प्रोटीन (प्रतिशत)	12.5	11.8
वसा (प्रतिशत)	19.3	19.6
सोडियम क्लोराइड (प्रतिशत)	1.6	1.6
पानी धारण क्षमता (प्रतिशत)	68.4	65.9
तैयार किये गये पदार्थ उत्पादन	112.0	110.7

कोचारली, आदि (1984)

सारणी-10.39 प्रोटीन के विभिन्न स्तरों पर पाले गये, भैंस के नर बच्चों (कटड़ों) के मांस की गुणवत्ता

विशिष्टतायें	एन.आर.सी. (1976) के अनुरूप प्रोटीन स्तर			संपूर्ण औसत
	100	80	60	
पानी (नमी) प्रतिशत	76.5	76.3	76.4	76.4±0.1
प्रोटीन प्रतिशत	20.3	20.5	20.4	20.4±0.1
वसा प्रतिशत	1.6	1.0	1.9	1.5±0.2
खनिज प्रतिशत	1.1	1.0	1.0	1.0±0.0
ऊर्जा (कि. कैलोरी/ग्रा.)	6.9	6.9	6.7	6.8±0.0
सारकोप्लास्टिक प्रोटीन प्रतिशत	5.1	4.9	5.3	5.1±0.1
मायोफाइब्रिलर प्रोटीन	6.2	7.8	7.3	7.2±1.1
अप्रोटीन नाइट्रोजन प्रतिशत	0.4	0.4	0.4	0.4±0.0
हाइड्रोप्रोलीन प्रतिशत	0.1	–	0.1	0.1±0.0
पी.एच.	5.6	5.5	5.6	5.5±0.0
रेशा (फाइबर) व्यास (म्यू)	34.9	33.7	37.2	35.1±0.8
शीयर फोर्स मान (कि.ग्रा./1.25 से.मी. कोर)	4.1	4.7	3.3	4.00±0.4
कुकिंग रिलीस वोल्यूम (कुकिंग लोस/100 ग्रा. मांस)	32.8	31.7	33.4	32.6±0.4
पानी धारण क्षमता (मि0ली0/100 ग्रा. मांस)	0.0	29.2	7.8	20.6±3.1

अन्जनेल्यु, आदि (191985)

अन्जनेयुलू, आदि (1985) के अध्ययनों से ज्ञात होता है कि एन.आर. सी. (1976) के अनुसार भैंस कटड़ों को 100, 80 एवं 60 प्रतिशत प्रोटीन तथा 100 प्रतिशत ऊर्जा प्रदान करने पर, उनमें 64.92, 14.75 एवं 19.3 प्रतिशत वसा रहित (लीन) मांस, पृथक करने योगय वसा और शव अस्थियों की मात्रा उस समूह में जिसे अधिकतम पौष्टिक तत्व प्रदान किये गये थे, प्राप्त हुई। मध्यम एवं निम्न तत्व ग्रहण करने वाले समूहों में ये आंकड़े क्रमशः 68.03, 11 81 और 19.60 एवं 66.60, 12.77 और 20.0 प्रतिशत पाये गये थे। इस अध्ययन में लोन्गीसीमस डोरजाई ऊतकों के संपूर्ण मान (ओवर आल औसत) इस प्रकार थे – नमी 76.36 प्रतिशत, प्रोटीन 20.44 प्रतिशत, अंर्तमांसपेशीय वसा 1.5 प्रतिशत, खनिज 1.04 प्रतिशत और ऊर्जा 6.83 किलो कैलोरी प्रति ग्राम (शुष्क पदार्थ के आधार पर), सारकोप्लास्मिक प्रोटीन 5.12 प्रतिशत, मायोफाइब्रिलर प्रोटीन 7.19 प्रतिशत, अप्रोटीन नाइट्रोजन 0.37 प्रतिशत, हाइड्रोप्रोलीन 0.12 प्रतिशत, पी.एच. 5.54 प्रतिशत, रेखा व्यास 35.3 मीटर, शियर फोर्स मान 4. 03 कि.ग्रा. प्रति 1.25 से.मी., कुकिंग रिलीस वोल्यूम 32.61 प्रतिशत एवं पानी धारण क्षमता 20.6 मि.लि. प्रति 100 ग्राम मांस पाई गई (सारणी 10.39)। आहार के पाचनशील प्रोटीन स्तर का उपर्युक्त गुणों पर महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं देखा गया था। समी एवं शर्मा ने आयु एवं प्रोटीन के स्तरों का मांस की गुणवत्ता पर अध्ययन किया है (सारणी 10.40)।

सारणी-10.40 विभिन्न आयु एवं प्रोटीन स्तरों का मांस की गुणवत्ता पर प्रभाव

विशिष्ट	आयु (माह)		प्रोटीन स्तर (प्रतिशत)		
	12	19	10●	14	18
शीयर फोर्स (कि.ग्रा./से.मी.^{2})	3.5	4.2	3.9	3.9	3.9
पकाने में हानि (प्रतिशत)	34.7	34.4	34.5	34.6	34.6
पानी धारण क्षमता (प्रतिशत)	21.7	21.4	21.3	21.6	21.6
कोमलता स्कोर	7.5	6.7	7.1	7.0	7.1
रसीलापन स्कोर	6.4	6.5	6.5	6.5	6.4
वसा स्कोर	6.5	6.7	6.6	6.6	6.5

समी एवं शर्मा (1985)

3. संवेदनशील अंग परीक्षण (सेंसरी ऑरगन टेस्ट)

मात्र पोषण उच्च गुणवत्ता हो, उपभोक्ता को प्रभावित करने वाला गुण नहीं है, मांस का स्वाद और गंध भी गुणवत्ता का एक महत्वपूर्ण निर्णयात्मक कारक है। इन परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि भैंस के मांस में गंध नहीं होती है और गोमांस से इसमें कोई अंतर दिखाई नहीं देता है। मात्र वृद्ध भैंसों के मांस का रंग गहरा होता है और उसमें वांछनीय गंध नहीं होती है। अनेक देशों में किये गये गहन अध्ययनों से अब स्पष्ट हो गया है कि 2–3 वर्ष की आयु के भैंस के नर (कटड़े) अथवा मादा (कटड़ियों) की उचित रूप से देखभाल की जाए और उचित आहार प्रदान किया जाए तो उनसे उच्च गुणों वाला मांस प्राप्त होता है जो गोमांस यदि उत्कृष्ट नहीं तो समान गुणों वाला (कोमलता, रसीलापन और सुबास आदि में) तो अवश्य ही होता है। कालब, आदि (1971) ने स्पष्ट किया कि गोमांस एवं भैंस मांस दोनों की समान रूप से स्वादिष्ट पाये गये। दोनों में ही तुलनात्मक गंध, सरलता और कोमलता पाई गई।

मांस में उपस्थित संयोजी ऊतकों का मांस के कड़ेपन पर प्रभाव पड़ता है। वृद्ध आयु के पशुओं का मांस अधिक कड़ा होता है। पकाते समय जितना कम हानि हो मांस की गुणवत्ता उतनी ही अधिक अच्छी मानी जाती है। मांस में प्रोटीन ही मुख्य पानी धारण करने वाला अवयव है। जितना ही उच्च नमी (पानी) एवं प्रोटीन अनुपात होगा, उतना ही कम पानी धारण करने की क्षमता मांसपेशियों में होगी, राष्ट्रीय डेयरी अनुसंधान संस्थान, करनाल (1985) में किये गये अन्वेषणों से निष्कर्ष निकाला गया कि आहार के प्रोटीन स्तर का भैंस के मांस की कोमलता, रसीलापन एवं सुवास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

चार्ल्स, आदि (1972) आस्ट्रेलियन वैज्ञानिकों ने बतलाया कि 20–34 माह की आयु वाले भैंस पशुओं से प्राप्त मांस की गुणवत्ता 12–18 माह के गोवंशों से प्राप्त गोमांस के समान पाई गई थी।

हिमीकृत पशु शव को देखने में गहरे रंग वाला और वसा रहित (लीन) प्रतीत होता है क्योंकि त्वचा के नीचे वसा असमान रूप से वितरित रहती है और वसा संरचना में कड़ा होने तथा रंग में श्वेत होने के कारण आकर्षक लगती है। ताजी काटी गयी मांसपेशियों का रंग लाल होने के कारण भैंस का मांस गोमांस से गहरे रंग का दिखाई देता है।

पशु उत्पादों से आय

वधशालाओं से प्राप्य पदार्थ एवं पशु उत्पादोत्पाद, देश में पशुधन से प्राप्त होने वाली आय के मुख्य स्रोत हैं।

नीदरलैंड सरकार एवं आहार तथा कृषि संगठन (फूड एण्ड एग्रीकल्चर आरगेनाइजेशन) के सहयोग से बक्सी का तालाब में एक कारकस संयंत्र लगाया गया है परन्तु शवों के भली–भांति एकत्रित न हो सकने के कारण इसका उपयोग संतोषजनक ढंग से नहीं हो पा रहा है। मुंबई की एकक के कार्य में उन्नति हुई है।

1. मृत पशु

अनुमान है कि भारत में लगभग 29 मिलियन पशुओं के शव प्रतिवर्ष प्राप्त होते हैं। जैसे ही पशु की मृत्यु होती है, उसे आवास से पृथक करना आवश्यक होता है। गांवों में एक समुदाय विशेष के लोग इस प्रकार के पशुओं को आवासीय स्थानों से दूर ले जाते हैं और पशुओं की त्वचा को निकाल कर पशु को भूमि में गड्ढा बना कर दबा देते हैं। हड्डियों को कुछ लोग एकत्रित भी करते हैं और पूरा ट्रक भार होने पर नगर अथवा स्थान विशेष को भेजने की व्यवस्था की जाती है।

श्रीलंका के एक सर्वेक्षण (1973) से ज्ञात हुआ है कि कुल त्वचा (चमड़े) का 95 प्रतिशत, भली–भांति शरीर से पृथक न करने से दोषपूर्ण हो जाती है और मात्र 25 प्रतिशत को ही संसाधन करके बाह्य देशों में निर्यात के योग्य बनाया जा सकता है। पशु में कुल उत्पन्न की जाने वाली खालों (चमड़ों) में 80 प्रतिशत तथा त्वचाओं में 20 प्रतिशत मृत पशुओं से प्राप्त होती है। यदि कुल उत्पादन का 50 प्रतिशत चमड़ा एवं त्वचा का भी संसाधन उत्कृष्ट गुणवत्ता वाले चमड़ों और त्वचा के लिए संभव हो सके तो भारी भरकम राशि की आय हो सकती है। भारत सरकार ने 1978–79 में वित्त वर्ष के अंत में इन स्रोतों से 6 हजार मिलियन रुपयों के निर्यात की योजना बनाई थी। चमड़ों तथा उनसे बनी वस्तुओं के निर्यात का अनुमान 1950–1951 से 1977–1978 तक किये गये निर्यात (चित्र 10.1) से लग जाता है। अनुमान लगाया गया है कि प्राकृतिक मृत्यु से मृत पशुओं के 53 प्रतिशत का ही उपयोग होता है और शेष नष्ट हो जाते हैं। खुरों एवं सींगों के एकत्रित करने में 60–66 प्रतिशत

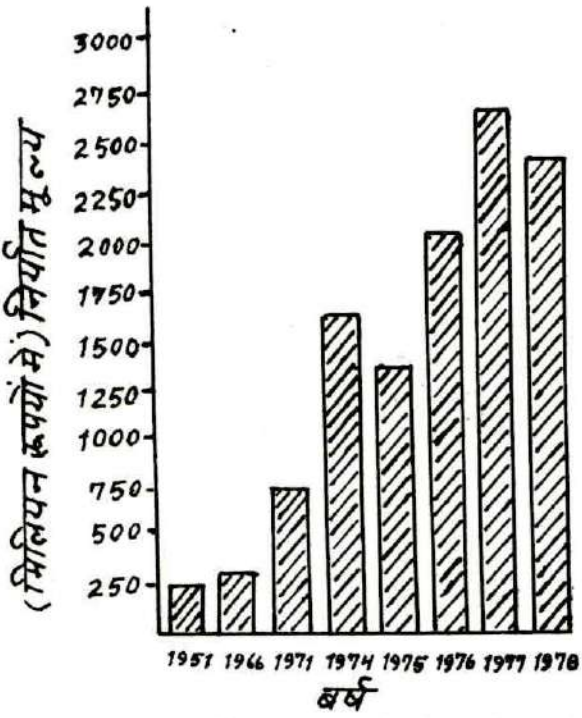

चित्र-10.1 भारत से चमड़ा एवं चमड़े की वस्तुओं का निर्यात

तक ही हानि पाई गई है। गणना की गई है कि यदि 1979 में सभी मृत पशुओं को ठीक से संसाधित किया जाता तो लगभग एक मिलियन टन मांस, सूअरों और कुक्कुटों के खिलाने हेतु प्राप्त किया जा सकता था और इससे लगभग 2000 मिलियन रुपयों की आय हो सकती थी। यदि सभी मृत पशुओं के शवों का उचित उपयोग करने का लक्ष्य निर्धारित कर लिया जाए तो देश में लगभग 20,000 शव उपयोग केन्द्रों की आवश्यकता होगी, जिससे लगभग 180,000 युवकों को पूर्णकालिक कार्य भी प्राप्त हो सकता है।

वधशालाओं से प्राप्त पशु उपोत्पाद

भारत में अनेक वधशालाओं के फर्श कच्चे हैं, यहां पर कार्य करने वाले अनपढ़ हैं और वे पशुओं के वध करने में प्राचीन हथियारों का प्रयोग करते हैं। पशुओं की चमड़ी को पृथक करने में सावधानी नहीं रखी जाती है और इनकी गुणवत्ता पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। वधशालाओं में गंदगी रहती है। रक्त, कच्चे फर्श पर बह कर अत्यधिक मात्रा में नष्ट हो जाता है और शेष में विष्ठा मिल जाती है। वर्ष 1979 में ही लगभग 66,000 टन रक्त एकत्रित किया जा सकता था और रक्त चूरा से लगभग 40 मिलियन रुपयों की आय हो सकती थी। इसी प्रकार पशुओं की आंतों (अंतड़ियों) को एकत्रित करके संसाधित किया जा सकता है जिसमें लगभग 8 मिलियन रुपयों की वार्षिक आय हो सकती है। पशुओं के अन्य उपादोत्पादों को भली–भांति एकत्रित करने और विक्रय करने से राष्ट्रीय आय में महत्वपूर्ण वृद्धि की जा सकती है।

भैंस के मांस उत्पादन में व्यर्थ पदार्थों की उपयोगिता

भैंस के मांस उत्पादन में कुछ ऐसे पदार्थ भी होते हैं जिन्हें व्यर्थ (ऑफल) माना जाता है और उनके पौष्टिक मूल्य पर ध्यान नहीं दिया जाता है। वधशाला के व्यर्थ पदार्थों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है।

1. व्यर्थ मांस (ऑफल मीट)

(अ) कीमा

फुटकर दुकानों पर सिर, ग्रास नली एवं मध्यपट के मांस को बड़े गंडासे से काट काटकर छोटा कर लिया जाता है और फिर मिन्सिंग करने वाली मशीन से इसे बारीक कर लिया जाता है इसमें नमक मिला कर 'कीमा' तैयार किया जाता है। इसे कीमा करी, कोफ्तों अथवा टिक्की बनाने के काम लाया जाता है। इससे शाही कबाब भी बनते हैं। कीमा और चनों को 4:1 के अनुपात में पत्थर पर रगड़ कर पीस लिया जाता है और उसमें गर्म मसाला, पिसा हुआ प्याज तथा अदरक आदि मिला कर छोटे–छोटे गोले अथवा टिकिया बनाकर चिकनाई में तल लिया जाता है। सिर में शव मांस की अपेक्षा अधिक वसा होती है तथा मध्यपट मांस कड़ा होता है।

(ब) पाया

सर्वप्रथम पैरों के खुरवाले भाग को 10–15 मिनट तक उबलते पानी में रखकर किसी कठोर वस्तु से टकराकर पृथक कर देते हैं। पैरों की अस्थियों को इस प्रकार से काटते हैं कि लंबी शैफ्ट तो अखंडित बनी रहे परन्तु उंगलियां आदि लंबाई में अलग हो जाएं। कभी–कभी मांस की वृद्धि के लिए शव के अग्र एवं पृष्ठ के शैंक भागों को मिला दिया जाता है। इन पदार्थों पर नमक, इमली का पाउडर तथा हल्दी डालकर बड़े बर्तन में भर दिया जाता है। इनके ऊपर पानी इस प्रकार डाला जाता है कि सभी पदार्थ ठीक से डूब जाएं। लगभग 6 घंटों तक खदकने वाले ताप पर गर्म किया जाता है। अन्त में लम्बी अस्थियों से मांस, मज्जा एवं अन्य पदार्थ पृथक हो जाते हैं। लम्बी अस्थियों को अलग कर दिया जाता है तथा छोटी अस्थियों को उपस्थित (कार्टीलेज) संरचना सहित, मसाला आदि मिला कर चिकनाई में फ्राई करते हैं जब तक कि उसमें गाढ़ापन न आ जाए। गर्म करते समय जब भी पानी की आवश्यकता हो मिला दिया जाता है। पाया को सदैव ही गर्म–गर्म करके परोसा जाता है। इसके प्रयोग से शरीर में ऊष्मा आ जाने की मान्यता है अतः शीत ऋतु में इसका अधिक उपयोग किया जाता है। पाया का प्रयोग चावलों के साथ करने से अधिकतम परिवृद्धि होती है। धारणा है कि अस्वस्थ व्यक्तियों को पाया का प्रयोग शीघ्र ही स्वास्थ्य एवं हृष्ट–पुष्ट कर देता है।

(स) बट

रूमेन का मांस अनेक मोटाइयों की चद्दर है जिसकी संरचना कठोर होती है। इसे 2–4 से.मी. के वर्गाकार टुकड़ों में काटा जाता है। इन्हें पानी में आधे घंटे से अधिक देर तक पकाया जाता है, जब तक कि मांस कोमल न हो जाए और फिर पानी को निथार कर पृथक कर दिया जाता है। गर्म पदार्थ को प्याज, लहसुन, नमक आदि मसालों के साथ तला जाता है। थोड़ा और पानी मिलाकर आधे घंटे तक पुनः पकाया जाता है। बट चटनी के साथ, तली मछली की भांति दिखाई देती है।

2. अंग मांस (ओरगन मीट)

इन्हें सुकोमल मांस माना जाता है। अयन के अतिरिक्त वर्ग–1 एवं वर्ग–2 तथा अन्य अंगों के मांस अत्यधिक कड़े होते हैं और उनके पकाने में लंबा समय

लगता है। निर्धन लोग वर्ग–3 के अंग मांसों का भी प्रयोग कर लेते हैं। पकाई गई तिल्ली को कुत्तों को खिलाने के काम लाया जाता है और ताजी मछली पकड़ने के लिए वेट में प्रयोग की जाती है।

वर्ग-1

मस्तिष्क के मांस को तल कर प्रयोग करते हैं, इसे भेजा कहते हैं। प्रारम्भ में ताजे मांस को पानी में 5–8 मिनट तक पकाते हैं। दुर्गंध दूर करने के लिए इसमें सिरका भी मिला दिया जाता है। इसके बाहर की झिल्ली को हटाकर ऊतकों को छोटा–छोटा काट लिया जाता है और उसमें हरी धनिया, नमक, प्याज तथा मसाला मिला कर चिकनाई में तल लेते हैं। यकृत एवं वृक्क को भी इसी प्रकार तलते हैं परन्तु इनके बड़े टुकड़े काटे जाते हैं। इन दोनों अंगों को पृथक अथवा साथ मिला कर करी बनाने में प्रयोग किया जाता है।

वर्ग-2

जीभ, हृदय एवं कानों को छोटे–छोटे टुकड़ों में काट कर करी बनाते हैं। महाधमनी (एओरटा) एवं श्वास नली (ट्रेकिया) को हृदय करी बनाने के काम लाया जाता है। अयन को करी बनाने तथा शव मांस के साथ भी प्रयोग करते हैं।

वर्ग-3

ऐसी मान्यता है कि फेफड़ों का प्रयोग करने से बच्चों वाली माताओं का दूध बढ़ जाता है प्रायः इस उद्देश्य से ही इस वर्ग के अंगों का प्रयोग किया जाता है। रेटीकुलम, ओमेजम एवं चतुर्थ आमाशय एबोमेजम को चूना पानी में धोकर झिल्ली हटाकर तथा पुनः स्वच्छ पानी में धोकर करी बनाने के काम लाया जाता है। इससे पूर्व इन्हें गर्म करते हैं। सारणी 10.41 में इस प्रकार के पदार्थों के उत्पादन एवं मूल्य का आभास मिलता है।

भैंस के मांस के निर्यात की वर्तमान स्थिति एवं भावी अपेक्षायें

भैंस के मांस का निर्यात वर्ष 1974–74 में जो कि 2000 टन था, वर्ष 1977–78 में बढ़कर 15,639 टन हो गया था। एक सर्वेक्षण के अनुसार देश में विभिन्न पशुओं के मांस का उत्पादन एवं खपत सारणी 10.42 के अनुसार बतलाई गई है।

सारणी-10.41 बरेली में व्यर्थ मांस एवं अंग–मांस का उत्पादन और उनका मूल्य

मांस के प्रकार	उत्पादन (कि.ग्रा.)	बिक्री का एकक	मूल्य (रुपयों में)
व्यर्थ मांस (मीट ऑफल)			
सिर	6.53±0.27	कि.ग्रा.	4.0
ग्रासनली	0.34±0.01	–	–
मध्यपट डायफ्राम	0.60±0.03	यूनिट	0.75–1.25
रुमेन	4.19±0.19	कि.ग्रा.	2.0–4.0
पैर	6.16±0.11	चार का सेट	5.0–7.0 (ग्रीष्म) 10.0–20.0 (शीत)
अंग मांस (ओरगन मीट)			
वर्ग–1			
मस्तिष्क	0.49±0.01	यूनिट	3.5–6.0
यकृत	3.94±0.15	कि.ग्रा.	5.0–6.0
वृक्क	0.31±0.02	यूनिट	2.0–3.5
वर्ग–2			
कान	0.87±0.01	जोड़ा	3.0–4.0
जिह्वा	1.44±0.04	कि.ग्रा.	5.0
हृदय	1.31±0.03	यूनिट	4.0–6.0
अयन	2.61±0.16	कि.ग्रा.	6.0
वर्ग–3			
रेटीकुलम	1.49±0.06	यूनिट	0.25
ओमेजम	2.72±0.15	यूनिट	0.50
आमाशय	1.24±0.47	यूनिट	1.0–2.0
तिल्ली	2.50±0.05	यूनिट	0.25
फेफड़े एवं श्वसन नलिका	2.50±0.10	जोड़ा	0.50

लक्ष्मनन, आदि (1984)

सारणी-10.42 मांस का उत्पादन एवं घरेलू खपत (हजार टनों में)

मांस की किस्म	मांस उत्पादन सामर्थ्य (पोटेन्शियल)			घरेलू खपत अनुमानित पूर्वालोकन		निर्यात के लिए अतिरिक्त मात्रा	
	1975	1981	1990	1981	1995	1981	1990
बीफ एवं वील	71	78	90	78	90	–	–
भैंस का मांस	117	130	1000	90	240	40	760
भेड़–बकरियों का मांस	386	405	484	393	424	12	60
सूअर का मांस	56	75	113	75	113	–	–
कुक्कुट मांस	101	120	154	120	154	–	–
अन्य मांस	90	108	140	108	140	–	–
कुल योग	821	916	1981	864	1161	52	820

ज्ञात हुआ है कि तेल उत्पादक अरब देशों को हमारे देश से मांस का निर्यात बढ़ रहा है। इन देशों की बढ़ती जनसंख्या एवं आय तथा जीवन स्तर में उत्थान को दृष्टि में रखते हुए, भविष्य में पर्याप्त मात्रा में मांस निर्यात की संभावनायें हैं।

भारत में इस समय भैंसों की कुल संख्या लगभग 7.5 करोड़ है और यदि इसमें 3.75 करोड़ जनन योग्य मादा भैंसें हों और वह प्रति वर्ष एक बच्चा जनन करें और उनमें से आधे नर (कटड़े) प्राप्त हो सकते हैं। इन कटड़ों की कुल संख्या में मरने वाले, प्रजनन के लिए तथा भारवाही कार्यों के लिए आवश्यक कटड़ों की संख्या कम कर दी जाए तो भी बड़ी संख्या में नर (कटड़े) शेष बच जायेंगे। वास्तव में सम्पूर्ण देश में इस समय मात्र 2,000 भैंस के सांड ही प्रजनन के लिए प्रयोग किये जा रहे हैं और यह एक अत्यंत छोटी संख्या है।

हमारे देश में मादा (कटड़ियों) के पालन–पोषण पर अधिक ध्यान दिया जाता है और नर (कटड़े) प्रारंभिक अवस्था में ही बड़ी संख्या में मर जाते हैं क्योंकि इन्हें न दूध की ही उचित मात्रा प्रदान की जाती है और न अन्य पौष्टिक तत्व की। यदि इन अतिरिक्त नर (कटड़ों) को सस्ते आहार पर रख कर 1.5–2.0 वर्षों तक पाला जाए तो न केवल देशवासियों को प्रचुर मात्रा में पशु प्रोटीन उपलब्ध हो सकेगा, बड़ी मात्रा में मांस का निर्यात कर भारी विदेशी मुद्रा भी अर्जित की जा सकेगी।

मांस उत्पादन में विकास की योजनायें

देश के विभिन्न भागों में छोटी–छोटी वधशालाओं को ध्यान में रखते हुए सरकार ने 1970 में आदर्श वधशालायें बनाने का निर्णय लिया और इसके अनुसार मुम्बई में एक वधशाला बनाई गई थी, जिसकी क्षमता एक साथ 300 बड़े और 17,000 छोटे पशुओं के वध करने की थी। त्यौहार आदि के अवसरों में दो गुनी संख्या में भी पशु वध किये जा सकते हैं। गोवा में 250 बड़े और दुर्गापुर में 1,000 छोटे पशुओं को प्रतिदिन वध करने की योजना थी।

अन्य बड़े शहरों में मांस कारपोरेशनों के द्वारा वधशालाओं में स्वच्छ वातावरण उचित संसाधन तथा वधशालाओं के उत्पादोत्पादों को भली–भांति भंडारित करने एवं उपयोग की योजनाऐं हैं।

देश के आर्थिक विकास के लिए प्रमुख पशु उत्पादों उदाहरणार्थ – दूध, अंडा एवं मांस के उत्पादन, संसाधन, भंडारण, विपणन एवं गुणवत्ता की पूर्ति हेतु भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान में पशुधन उत्पाद तकनीकी विभाग की 1975 में स्थापना की गई। आगे चलकर इस संस्थान का ओर विकास हुआ और 1990 में इसे मांस के राष्ट्रीय अनुसंधान केन्द्र का स्वरूप प्रदान कर दिया गया। इस केन्द्र के मांस उत्पादन विकास में निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य हैं। चित्र 10.2 में इस संस्थान के क्रिया–कलापों को प्रदर्शित किया गया है।

1. मांस एवं मांस उत्पादोत्पादों पर आधारभूत एवं व्योहारिक अनुसंधान कार्य करना और उनके विकास के लिए नवीनतम तकनीकी का विकास करना।
2. मांस उत्पादन एवं संसाधन के समय स्वच्छता एवं जीवाणु संबंधी मानकी का विकास करना।
3. मांस के नये पदार्थों को बनाने के लिए मसालों एवं तकनीकी का विकास करना।
4. मांस एवं मांस पदार्थों के उत्पादन, संसाधन, गुणवत्ता नियंत्रण, भंडारण एवं विपणन आदि कार्यों में संलग्न व्यक्तियों को शिक्षा एवं तकनीकी ज्ञान प्रदान करना।
5. मांस विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा प्रदान करना।
6. संस्थान में विकसित ज्ञान एवं तकनीकी को उपयोग करने वालों तक पहुंचाना और उन्हें उचित परामर्श प्रदान करना।

उपर्युक्त उपायों से निकट भविष्य में ही इस कृषि आधारित उद्योग को अधिक सफलता मिलने की संभावनायें हैं।

भैंसों में कार्य उत्पादन

दक्षिण एशिया एवं निकट पूर्वी क्षेत्रों की रिवराइन भैंसें प्रमुख रूप से दूध के लिए पाली जाती हैं तथा कार्य द्वितीय महत्व में रखा जाता है। भैंसों

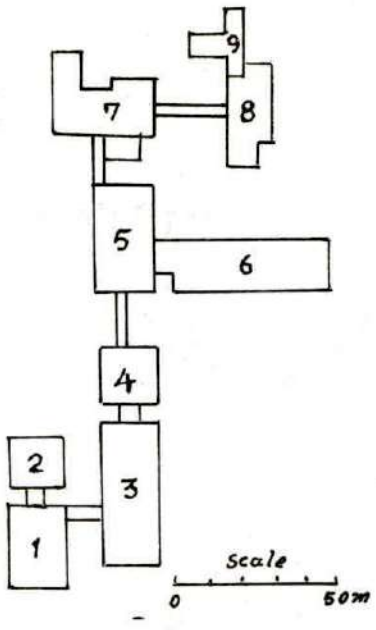

चित्र-10.2 भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान इज्जतनगर के पशुधन उत्पाद, तकनीकी विभाग का दृश्य

1. दो मंजिला भवन–प्रोटीन एवम् बसा प्रयोगशालायें और उपजात विभाग
2. पायलट संयंत्र सुविधा
3. दो मंजिला सुविधा–भूमि तल पर विभिन्न कार्यालय एवं प्रथम तल पर सूक्ष्म जीवी एवं डिब्बाबंदी प्रयोगशाला
4. दो मंजिलों भवन–रेफ्रीजिरेटर एवं फ्रीजर कक्ष, शिक्षण कक्ष और स्वाद निरीक्षण तथा गंध संश्लेषण सुविधा
5. दो मंजिला भवन–बध एवं काटने का विभाग, व्यर्थ एवं उपजात् पदार्थों का उपचार कक्ष
6. पशु निवास, मूर्छित करने एवं बध करने का कक्ष
7. मांस एवं अस्थि चूर्ण विभाग
8. मांस तथा अस्थि चूर्ण बनाने पूर्व पशु की चीड फाड कक्ष
9. मांस तथा अस्थि चूर्ण संयंत्र के न चलने पर उपयोग किये जाने वाला कक्ष

की अपेक्षा इन क्षेत्रों में बैलों को भारवाही तथा खिंचाव कार्य के लिए उत्तम माना जाता है क्योंकि वे उच्च परिवेश ताप पर भी परिश्रम के कार्य दक्षता से कर सकते हैं। भैंस छोटे कृषकों का पशु माना जाता है और उनकी यह एक बड़ी पूंजी है।

विश्व के विभिन्न भागों में भारवाही भैंसों के वितरण को चित्र 10.3 में प्रदर्शित किया गया है।

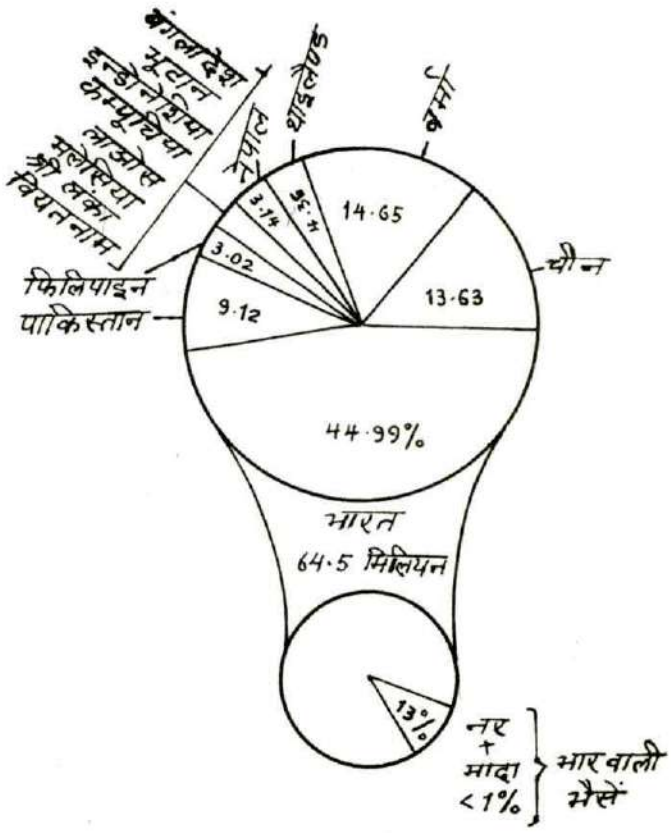

चित्र-10.3 एशिया में भैंसों का वितरण (एफ.ए.ओ., 1985)

भैंसों द्वारा कृषि कार्य

दक्षिण पूर्वी एशिया में भैंस एक आदर्श भारवाही पशु हैं। कोकरिल (1968) ने भैंस को पूर्व का 'जीवित ट्रैक्टर' बतलाया है। चावल की खेती करने के लिए थाईलैंड के अभियांत्रिकी विभाग ने कम लागत वाला एक छोटा ट्रैक्टर विकसित किया है जिसका नाम 'लोहिया भैंस' (आइरन बफैलो) रखा है।

भैंसों के पैरों में खुरों की बनावट इस प्रकार की होती है कि धान की बुआई के लिए तैयार किये जाने वाले पानी भरे खेतों में वे धूम–धूम कर चल सकते हैं जिससे खेत में कीचड़ उठ जाता है और धान बो दिया जाता हैं। भैंसों की प्रवृत्ति पानी में भी कार्य करने की होती है और उदर (बेली) तक पानी में धंस कर जुताई आदि कार्य कर सकते हैं। गोवंश तथा अन्य पशुओं की अपेक्षा भैंसों से अधिक गहरी जुताई की जा सकती है। इसके लिए उन्हें लकड़ी का हल, मिट्टी पलटने वाला हल तथा विभिन्न प्रकार के हेरो चलाने में प्रयोग किया जाता है। विश्व में कृषि कार्यों में उपयोग की जाने वाली कुल शक्ति का लगभग 85 प्रतिशत पशुओं के द्वारा उत्पन्न की जाने वाली कुल शक्ति का लगभग 85 प्रतिशत पशुओं के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। चीन, भारत, इंडोनेशिया, कोरिया एवं फिलीपाइंस में कृषि में आवश्यक कुल भारवाही शक्ति का 95 प्रतिशत पशुओं के द्वारा सम्पन्न होता है।

दक्षिण पूर्वी एशिया एवं मिस्र में गोवंश एवं भैंस पशु भारवाही शक्ति के प्रमुख स्रोत हैं। इन्होंने घोड़े, गधे, ऊंट आदि के भारवाही महत्व को कम कर दिया है। विभिन्न पशुओं की भारवाही शक्ति सारणी 10.43 में प्रदर्शित है।

थाईलैंड में एक अध्ययन के द्वारा ज्ञात किया गया है कि औसत रूप से प्रत्येक पशु पालक के पास दो भैंसें होती हैं और औसत भैंस 10.5 राई से अधिक क्षेत्र में गुड़ाई (कल्टीवेशन) कर सकती है और प्रतिदिन लगभग 5 घंटों तक कार्य करके लगभग 0.6 राई क्षेत्र की जुताई (प्लोइंग) की जा सकती है (सारणी 10.44)।

जिन देशों में भैंसों को भारवाही पशु के रूप में उपयोग करना हो, भैंस गाड़ी में इनका प्रयोग अधिक प्रचलित है। इसके अतिरिक्त कुऐं से पानी निकालने के लिए रहट में, गन्ना से रस निकालने के लिए कोल्हू में तथा

सारणी-10.43 विभिनन पशुओं की सामान्य भारवाही शक्ति

पशु	औसत भार (कि.ग्रा.)	अनुमानित भार वाहन (कि.ग्रा.)	कार्य करने की औसत गति (मी./से.)	विकसित (कि.ग्रा./से.	शक्ति अव–शक्ति)
लघु अश्व	400–700	60–80	1.0	75	1.0
बैल	500–900	60–80	0.6–0.85	56	0.75
भैंसें	400–900	50–80	0.8–0.9	55	0.75
गायें	400–600	50–60	0.7	35	0.45
खच्चर	350–500	50–60	0.9–1.0	52	0.70
गधे	200–300	30–40	0.7	25	0.35

एफ.ए.ओ. (1969)

सारणी-10.44 विभिन्न क्षेत्रों में भैंसों के कार्य करने की क्षमता

क्षेत्र	प्रति स्वामी भैंसों की संख्या	प्रति भैंस गुड़ाई किया गया क्षेत्र (राई)	प्रतिदिन कार्य करने के घंटे	प्रतिदिन प्रति पशु जोता गया क्षेत्र (राई)
उत्तर	1.8	6.6	5.2	0.7
कोरत	2.0	10.3	5.1	0.5
था–प्रा–उदोर्न उबोल	1.8	13.7	4.8	0.5
केन्द्रीय समतल एवं दक्षिण पूर्व	3.0	11.8	4.9	0.7

खाद्यान्नों की फसल से दाना निकालने (मड़ाई) में भी इन पशुओं का भरपूर योगदान है।

कार्य क्षमता

यद्यपि भैंसें गोवंश की अपेक्षा काम करने में मन्द हैं परन्तु उचित विश्राम तथा ग्रीष्म ऋतु में पानी में लोटने की सुविधा प्राप्त होने पर भैंसें भारी एवं अधिक कार्य करने में सक्षम हैं। अच्छी सड़कों पर जहां गाड़ियों में टायर के पहिये, प्रयोग किये गये हों, हरियाणा नस्ल की जोड़ी 29.9–37.2 क्विंटल बोझा (भार लदी) गाड़ी, 12 घंटो में 48 किलोमीटर तक खींच सकती हैं। इसी समय में भैंसों की जोड़ी उपर्युक्त गाड़ी 26–32 किलोमीटर ले जा सकती है। चीन में बधिया किये गये भैंस संभालने में सुगम और प्रकृति से सीधे होते हैं तथा 3 किलोमीटर प्रति घंटे की गति से 9.0–13.6 क्विंटल भार ढो सकते हैं। निम्न सारणी 10.45 में विभिन्न आकार की भैंसों की कार्य दक्षता प्रदर्शित की गई है।

सारणी-10.45 भैंसों की ज्ञात की गई कार्यक्षमता

भैंस की किस्म	भार कि.ग्रा.	मंद गति			औसत गति		
		गति किमी. /घंटे	खींचने का प्रभाव	शक्ति कि.वाट	गति किमी. /घंटे	खींचने का प्रभाव	शक्ति कि.वाट
लघु	400	2.5	56	0.39	3.2	40	0.35
मध्यम	650	2.5	91	0.63	3.2	65	0.57
भारी	900	2.5	126	0.87	3.2	90	0.80

गो एवं मेकडोविल (1980)

भैंसों की कार्य क्षमता में अत्यधिक भिन्नता पाई जाती है और कार्य क्षमता को ज्ञात करने की किसी मानक विधि के अभाव में इसे ज्ञात करना कठिन है। मैकडोविल (1980) एवं अग्रवाल (1985) के अनुसार अधिकतम गति से चलते हुए भैंसे अपने शरीर के भार का 8–15 प्रतिशत भार खींच सकते हैं। अधिक गति से चलने पर इनमें शीघ्र ही थकावट आ जाती है और कार्य क्षमता

कम हो जाती है। व्यापक रूप से पशुओं की भारवाही क्षमता निम्न कारकों पर निर्भर करती है।

(i) पशु संबंधी कारक

पशुओं की भार वाहन क्षमता उनके शरीर के भार, शरीर की माप एवं स्वास्थ्य पर निर्भर करती है। स्वस्थ एवं बड़े आकार के पशु अधिक भार वहन कर सकते हैं। एक अच्छी जोड़ी एक दिन में 2 टन भार 25–32 किलोमीटर ले जा सकती है। इनके कार्य करने की आयु 15–20 वर्ष होती है।

(ii) वातावरण संबंधी कारक

जलवायु एवं पशु आहार का पशु की भार वाहन क्षमता से सीधा और गहरा संबंध है। उचित आहार से पशु को पौष्टिक तत्व प्राप्त होते हैं जिससे उनमें स्फूर्ति एवं शक्ति आती है और वे अधिक कार्य सुचारू रूप से कर सकते हैं। उच्च परिवेश ताप पर पशु शीघ्र ही थक जाते हैं। निम्न परिवेश ताप अथवा ठंडे मौसम में पशु अधिक समय तक एवं अधिक श्रम वाला कार्य कर सकते हैं।

(iii) कार्य से संबंधित कारक

भार खींचने के प्रयास, गति तथा भार खींचने के कोण से भी पशु की भारवाही क्षमता प्रभावित होती है।

(iv) दैहिकी संबंधी कारक

ताप नियंत्रण, पेशीय ऊर्जा, हृदय स्वाच्छोवास (कार्डियोपलमोनरी) आदि कारकों का पशुओं की कार्य क्षमता पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

(v) यंत्र संबंधी कारक

यंत्र की किस्म, जुगाड़ (हार्नेश), युक्ति (हिच) आदि का खिंचाव प्रक्रिया से संबंध है और इससे पशु की कार्यकुशलता निश्चित रूप से प्रभावित होती है।

हल्का काम भैंसे लगातार 6–8 घंटों तक, मध्यम 4–6 घंटों तक और भारी कार्य 3–4 घंटों तक कर सकते हैं। टायर की भैंसा गाडी के द्वारा पशु

अपने शरीर से 6 गुना भार खींच सकते हैं। एक गाड़ी में भार खींचने की शक्ति सामान्यतः 1.5–2.0 टन अथवा अपने शरीर के भार की 3–4 गुना होती है। यह भार 2–3 घंटों तक लगातार खींचा जा सकता है। कार्य करने के मध्य में विश्राम करने के साथ शीत ऋतु में ये पशु 6–8 घंटे और ग्रीष्म ऋतु में 5–6 घंटे कार्य कर सकते हैं (कपूर, 1985)।

दक्षिण पूर्वी एशिया में भैंसों के कार्य करने की क्षमता को सारणी 10.46 में प्रदर्शित किया गया है। स्वाम्प भैंसों प्रतिदिन 5–6 घंटे कार्य कर सकती हैं। कोकरिल (1974) के अनुसार स्वाम्प भैंसें को वर्ष में 20–140 दिनों तक चावल की खेती के काम में लगाया जा सकता है।

सारणी-10.46 स्वाम्प भैंसों की कार्य क्षमता

कार्य का विवरण	भारवाही कार्य की व्याख्या
अधिकतम भार क्षमता	869 कि.ग्रा. (मादा)
खिंचाव शक्ति (ड्राफ्ट पावर)	287 कि.ग्रा. (मादा)
गाड़ी गति	370 कि.ग्रा. (अधिकतम)
हल (प्लाउ)	50–57 मीटर/मिनट
कीचड़ उठाना (पड़लिंग)	0.05–0.08 एकड़/घंटा
कार्य	20–146 दिन/वर्ष
वयस्क आयु में भैंसों का भार	350–550 कि.ग्राम
गायों का भार	350–400 कि.ग्रा.

चांतलखन (1985)

संकर (क्रोस ब्रीड) भैंसों की कार्यकुशलता

विभिन्न देशों में पाये जाने वाले भैंस के संकरों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

चीन

भारत से आयात की गई एवं स्थानीय भैंसों से भैंसों की द्विकाजी नस्ल

उत्पन्न की गई है जो कि कार्य और दूध उत्पादन में काम आती है। शक्तिशाली नर कार्य करने तथा मादा दूध देने के काम लाई जाती है।

वियतनाम

इस देश की छोटे आकार की भैंसें, प्रमुख रूप से भारवाही कार्यों के लिए प्रयोग की जाती है। वर्तमान समय में भारत की मुर्रा नस्ल को, स्थानीय नस्ल से संगम कराके संकर नस्ल का विकास किया गया है। ये पशु कार्य करने में बड़े परिश्रमी होते हैं। इन पशुओं का भार 3 वर्ष की आयु में 420 कि.ग्रा. के लगभग होता है।

थाईलैंड

भैंसें इस देश में फार्म शक्ति का प्रमुख स्रोत हैं। स्थानीय थाई भैंसें लगभग 0.2 हैक्टर भूमि 5 घंटों में जोत सकती है। जुलाई के माह में ये पशु पर्याप्त समय तक कार्य कर सकते हैं। कोनान्ता, आदि (1986) ने स्वाम्प एवं मुर्रा से प्राप्त संकरों पर अध्ययन करके बतलाया कि थाई भैंसें संकरों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से हल जोतती हैं।

फिलीपाइंस

ज्ञात किया गया है कि फिलीपाइन्स स्वाम्प, जल जोतने का कार्य, शुष्क एवं तर दोनों प्रकार की भूमियों पर अधिक अच्छा कर सकती हैं। फिलीपाइन्स भैंसों ने 2,500 मीटर क्षेत्रफल को जोतने में शुष्क भूमि के लिए 8.89 घंटे और तर भूमि को जोतने में 7.14 घंटों का समय लिए, जबकि संकरों ने इसके लिए क्रमशः 9.29 एवं 8.72 घंटों का समय लिया (गारिल्लो, आदि 1987)।

कार्य करते समय भैंसों की हृदय गति, श्वसन दर, शरीर ताप एवं प्लाज्मा आयतन में वृद्धि हो जाती है।

भारवाही क्षमता का मूल्यांकन

विश्व के विभिन्न भागों में भैंसों की भारवाही क्षमता का मूल्यांकन करने के लिए निम्नलिखित उपकरण अथवा संयंत्र आदि का प्रयोग किया जाता है।

उपकरण का नाम	प्रयोग करने वाली संस्था
ट्रेड मिल	1. राष्ट्रीय डेयरी अनुसंधान संस्थान करनाल 2. ऊष्ण कटिबंधीय पशु चिकित्सा विज्ञान का स्नातक स्कूल, जेम्स कुक विश्वविद्यालय, टाउंसविल्ले, क्वीनलैण्ड, आस्ट्रेलिया 3. ऊष्ण कटिबंधीय पशु चिकित्सा औषधि केन्द्र, एडिनवर्ग विश्वविद्यालय, स्कॉटलैंड, यू.के.
भार ढोने वाली कार	1. कृषि अभियांत्रिकी केन्द्रीय संस्थान, भोपाल 2. भारतीय तकनीकी संस्थान, खडगपुर
इरगोमीटर	– पंजाब कृषि विश्वविद्यालय, लुधियाना
स्लेज वाली (टाइप) भारवाही युक्ति	– आई.सी.आर.आई.एस.ए.टी. (एक्रीसेट) हैदराबाद
विन्ध वाली (टाइप) भारवाही युक्ति	– गोविन्द बल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर

अध्याय-11

भैंसों के रोग और उनकी रोकथाम

लगभग गत चार दशकों से, घरेलू भैंस की चिकित्सा विज्ञान संबंधित विषय पर अनेक प्रतिवेदन प्रकाशित किये गये हैं तथा इस ओर अत्यधिक ध्यान दिया गया है।

मोहन (1968) के अनुसार भैंसों में प्रायः वही रोग एवं परोपजीवी पाये जाते हैं जो कि गोवंशी पशुओं में परंतु अनेक रोग और परोपजीवियों के परिचय, प्रचलन, विकृत चित्रण आदि के संबंध में दोनों प्रजातियों में विभिन्नता भी पाई जाती है। कुछ रोग गोवंशों की अपेक्षा भैंसों में कम पाये जाते हैं और अपेक्षाकृत कम हानिप्रद होते हैं जबकि अन्य अधिक पाये जाते हैं और अधिक हानिप्रद होते हैं।

कुछ विद्धानों का मत है कि गोवंश एवं अन्य प्रजातियों के रोग भैंसों में नहीं पाये जाते हैं और वे उनसे मुक्त हैं परन्तु इस विचार धारा को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है। अन्य विद्धानों का मत है कि भैंसें भी अनेक रोगों के लिए उतनी ही संवेदनशील हैं जितने कि गोवंश।

जीवाणुओं से फैलने वाले रोग

भैंसों में निम्नलिखित रोग जीवाणुओं से फैलते हैं।

गलघोंटू (हीमोरेजिक सेप्टीसीमिया)

इसके अन्य हिन्दी नाम घुड़का, घोटुआ, नाविक ज्वर एवं घुर्रखा आदि हैं।

छूत के जीवाणु द्वारा फैलने वाला यह भयानक संक्रामक रोग है। भैंसें इस रोग के लिए अधिक संवेदनशील हैं और वैज्ञानिक जोसेफ (1979) के अनुसार भैंसों में इस रोग से मरने वालों की संख्या अधिक है।

रोग का कारण (इटिओलोजी)

भैंसों में यह रोग पाश्चयुरेल्ला बवैलीसेप्टिका द्वारा फैलता है। शरीर के बाहर ये जीवाणु शीघ्र नष्ट हो जाते हैं परन्तु शरीर के अंदर रक्त प्रणाली में प्रवेश पाकर ये अधिक समय तक जीवित रह कर अपना विकास करके पशु में रोग संचार करते हैं।

रोग फैलने का ढंग (मोड ऑफ इन्फेक्शन)

1. आहार द्वारा

रोग से दूषित आहार को खाने के कारण यह रोग स्वस्थ पशुओं को लग जाता है।

2. परोपजीवियों द्वारा

कभी–कभी यह रोग रक्त चूसने वाले मच्छरों, जूं, पिस्सुओं तथा मक्खियों द्वारा काटने पर भी फैलता है।

रोग प्रकट होने का समय (इन्क्युवेशन अवधि)

बहुधा 1–3 दिनों में रोग के लक्षण प्रकट होते हैं परन्तु कभी–कभी यह अवधि 2–5 दिनों की भी हो सकती है।

रोग के लक्षण

पशुओं में इस रोग की तीन अवस्थायें होती हैं और एक साथ अनेक पशु रोगग्रस्त हो जाते हैं।

(i) तीव्र रक्त पूतित अवस्था (एक्यूट सेप्टीसीमिक फोर्म)

इस रोग में पशु के शरीर का ताप एकाएक 40–42 डिग्री सैल्सियस तक पहुंच जाता है। पशु सुस्त रहता है, कान लटक जाते हैं, पहले कब्ज फिर जोर लगाकर दस्त, ऐंठन, दांत पीसना, दस्त में रक्त के साथ श्लेष्मा का मिश्रित होना और पशु की आहार में अरूचि हो जाना, इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं। कभी–कभी रोग का अधिक जोर होने पर, बिना लक्षण प्रकट किये ही मात्र 6–8 घंटों में पशु की मृत्यु हो जाती है। यह अवस्था ऐन्थ्रेक्स से मिलती–जुलती है।

(ii) शोथ अवस्था (ओडेमाटस फोर्म)

इस अवस्था में पशु को उच्च ताप होता है, ग्रीवा एवं निचले जबड़ों के मध्य कष्टप्रद कड़ी तथा गर्म सूजन हो जाती है। जिव्हा सूजकर मुंह से बाहर निकल आती है, मुंह से लार बहती है, श्वांस लेने एवं छोड़ने में कष्ट होता है। पशु अत्यधिक बेचैन रहता है, आंखें तथा शरीर की सभी श्लेष्मिक झिल्लियां सूज कर रक्तवर्ण हो जाती हैं। यही इस अवस्था के प्रमुख लक्षण हैं। जिव्हा और गले में सूजन अधिक बढ़ जाने से पशु को श्वांस लेने में कठिनाई होती है जिससे घुर–घुर की आवाज निकलती है। अन्ततोगत्वा पशु अपनी ग्रीवा नीचे डालकर पृथ्वी पर अचेत लेट जाता है और 12–36 घंटों में दम घुटने से पशु की मृत्यु हो जाती है।

(iii) अंस अवस्था (पेक्टोरल फोर्म)

पशु इस अवस्था में निमोनिया जैसे लक्षण प्रकट करता है। श्वांस गहरी और जल्दी–जल्दी चलती है। पशु के खांसने पर उसकी नाक से श्वेत लाल रंग का बदबूदार स्राव निकलता है, जो बाद में गाढ़ा होकर रस्सी के पतले टुकडों की भांति, नाक से लटकता रहता है। पशु को ताप हो जाता है और 1–7 दिनों में उसकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु के पश्चात् पशु के शव में चीरा लगाकर अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि शरीर की सभी श्लेष्मिक झिल्लियों में रक्ताधिक्य (कंसेसन), सभी लसिका ग्रंथियों और आंत्र एवं पेट की दीवारों में सूजन दिखाई देती है। आंत्र एवं पेट की दीवारों पर रक्त के छोटे–छोटे धब्बे भी जमे प्रतीत होते हैं।

रोग का निदान (डायगनोसिस)

इसकी तीन विधियां हैं।

(i) लक्षणों के अनुसार (सिम्पटोमाटिक)

उपर्युक्त लक्षण प्रकट होने पर रोग का निश्चय हो जाता है।

(ii) सूक्ष्मदर्शी द्वारा (माइक्रोस्कोपिक)

रोगी पशु के शरीर से निकले स्राव अथवा रक्त का परीक्षण सूक्ष्मदर्शी द्वारा करने पर इस रोग के जीवाणु की पहचान की जा सकती है।

(iii) संवर्धनीय (कल्चरल)

उपर्युक्त माध्यम में इस रोग के जीवाणुओं का संवर्धन करके, उनका परीक्षण किया जा सकता है।

रोग ग्रस्त पशु के शरीर के ऊतक रस (टिश्यू ससपेंशन) को स्वस्थ खरगोश के शरीर में इंजेक्शन द्वारा प्रविष्ट कर देने में 24 घंटों में रोग उत्पन्न हो जाने से वह मर जाता है।

रोग का उपचार (ट्रीटमेंट)

इस रोग का उपचार नहीं है। रोग के लक्षण प्रकट होने के पश्चात प्रायः पशु मर जाते हैं। यह रोग तीव्रता से फैलता है और एक स्थान कर लगभग 10 दिनों के पश्चात इसका प्रभाव समाप्त हो जाता है। इस रोग की विशेष चिकित्सा का समय नहीं मिल पाता है तथापि निम्नलिखित बचाव किये जा सकते हैं।

(i) एंटीसीरम यदि उपलब्ध हो तो रोगी पशु को 100–150 घ.से. की मात्रा अंतःशिरा (इन्ट्रावेनस) इंजेक्शन द्वारा देने पर लाभ होता है।

(ii) रोग की प्रारंभिक अवस्था में पशु को 1.3 से 2.6 ग्राम पोटाश पानी में मिलाकर पशु को कई बार पिलानी चाहिए।

(iii) 1.8 ग्राम पोटाश आयोडाइड को 300 घ. से. आसुत (डिस्टिल्ड) पानी में घोल कर त्वचा के नीचे इंजेक्शन लगाने से सूजन में कमी आती है।

(iv) प्रारंभ में कार्बोलिक अम्ल 4–6 ग्राम प्रति पशु की दर से पर्याप्त पानी में घोल कर पशु को पिलाने से रोग का प्रभाव कम हो जाता है।

(v) अधिक मूल्यवान पशुओं को 33.33 प्रतिशत सल्फामेजाथीन सोडियम के घोल का 70–100 घ.से. अंतःशिरा इंजेक्शन देना चाहिए। त्वचा के नीचे ग्रीवा में एक ओर 50 घं.से. सल्फामेजाथीन और दूसरी ओर 50 घं.से. एंटीसीरम का इंजेक्शन देने से आशातीत लाभ पाया गया है। आवश्यकता अनुभव होने पर इस इंजेक्शन को उसी अवस्था में दूसरे दिन दोहरा भी सकते हैं।

(vi) इस रोग में पैनिसिलीन, एल्फामेजाथीन मिला कर अंतःपेशी इंजेक्शन भी दिया जा सकता है। एल्फामेजाथीन के अतिरिक्त सल्फामीराजीन, सल्फाडाइजीन, सल्फाथायजोल आदि अन्य औषधियों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

(vii) सीरम यदि प्राप्त न हो सके तो कैल्शियम ग्लूकोनोट और कपूर युक्त तेल का प्रयोग किया जा सकता है।

(viii) आजकल अनेक नई औषधियां उदाहरणार्थ – होस्टासाइक्लीन, टेरामाइसीन, एक्रोमाइसीन, स्टेक्लीन, ऑक्सीटेट्रासाइक्लीन, ऐम्पीसिलिन एवं ओम्नामाइसीन आदि उपलब्ध हैं जो इस रोग में लाभकारी प्रभाव करती है।

रोक की रोकथाम एवं बचाव

(i) स्वस्थ पशुओं को गलघोंटू (कम्पोजिट ब्राथ वैक्सीन) का टीका लगाना चाहिए। इसका प्रभाव लगभग 2 माह तक रहता है।

(ii) रोगी पशु के संपर्क में आये सभी स्वस्थ पशुओं को 15–20 घं. से. सीरम का इंजेक्शन त्वचा के नीचे लगाना चाहिए। इसके पश्चात प्रति 10 दिन बाद इसे दोहरा सकते हैं जब तक कि रोग का प्रकोप कम न हो जाए। सीरम देने के 15 दिन के पश्चात पशुओं को वैक्सीन का टीका देने से अधिक लाभ होता है।

(iii) बचाव के लिए प्रतिवर्ष वर्षा प्रारंभ होने के पूर्व ही सामूहिक रूप से गलघोंटू के टीके लगवाना चाहिए।

(iv) मृत पशुओं की त्वचा न उतार कर ऐसी ही भूमि में दबा देना चाहिए।

(v) पशु के मरने वाले स्थान को कीटाणु नाशक पदार्थ फिनाइल आदि से धुलवाना चाहिए।

(vi) रोग से बचे स्वस्थ पशुओं को 10–12 दिनों तक रोगी पशुओं से नहीं मिलाना चाहिए।

(vii) रोगग्रस्त पशुओं को चारागाह आदि में नहीं भेजना चाहिए।

(viii) पशुओं का आवास स्वच्छ होना चाहिए और उन्हें पौष्टिक आहार प्रदान करना चाहिए।

लंगड़ी (ब्लैक क्वार्टर)

इस रोग को हिंदी में लंगडिया, चुरचुरिया, गोली, एक टंगा, फड़, सूजन, जहरवाद आदि हिंदी नामों से जाना जाता है।

इस रोग का प्रकोप वर्षा ऋतु में अधिक होता है और तीन वर्ष की आयु तक के पशु इससे प्रभावित होते हैं। भारी संख्या में इस रोग से ग्रसित पशुओं की मृत्यु होती है।

रोग के कारण (इटिओलॉजी)

बीजाणु वाले क्लॉस्ट्रीडियम चोविआई नामक जीवाणु, कभी–कभी क्लॉस्ट्रीडियम सेप्टिके द्वारा यह रोग फैलता है। इन जीवाणुओं के बीजाणु (स्पोरस) शरीर के अंदर ही बन जाते हैं। प्रतिकूल वातावरण में भी ये अधिक समय तक जीवित रह सकते हैं।

रोग फैलने का ढंग (मोड ऑफ इन्फेक्शन)

दूषित चारागाहों पर स्वस्थ पशुओं के चरने से इस रोग के जीवाणु पशु के शरीर में प्रविष्ट कर जाते हैं क्योंकि रोगी पशु की मृत्यु के पश्चात रोग के जीवाणु मिट्टी में मिल जाते हैं और पर्याप्त समय तक जीवित रहते हैं। खुले घाव अथवा खरोंच से भी जीवाणु शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। जीवाणु रक्त प्रणाली में न पहुंच कर क्षतस्थल (लेसाइन) में ही निवास करते हैं।

रोग प्रकट होने का समय (इन्कूवेशन अवधि)

कुछ घंटों से लगभग 5 दिनों तक।

रोग के लक्षण

इस रोग से ग्रसित पशु अन्य पशुओं से अलग खडा रहता है। पशु आहार ग्रहण करना एवं जुगाली करना बंद कर देता है। पशु को 41.7–42.3 सैल्सियस ताप हो जाता है। पशु रभाता और दांतों को चबा–चबा कर दर्द का अनुभव करता है। पशु की ग्रीवा, पृष्ठ, कन्धा एवं अन्य मांसपेशियों वाले अंगों पर सूजन

हो जाती है परन्तु यह सूजन घुटनों से तथा टखनों से नीचे नहीं होती है। सूजन में गैस भरे रहने के कारण सूजे अंग को दबाने से चड़चड़ाहट की आवाज होती है। इस चुर–चुर की आवाज के कारण ही इसे चुर चुरिया रोग कहते हैं। पशु पहले लंगड़ा कर चलता है और बाद में चलने–फिरने में असमर्थ हो जाता है। पिछले पुट्ढे पर प्रभाव होने के कारण पशु पिछली टांग से लंगड़ाते देखे जाते हैं। सूजन पहले गर्म तथा दर्द युक्त होती है परन्तु बाद में यह ठंडी हो जाती है और दर्द नहीं रहता है। इसमें चीरा लगाने से काले रंग का झागदार रक्त निकलता है जिसमें सड़े मक्खन जैसी दुर्गंध होती है। काटते समय सूजन वाला भाग रबड़ के स्पंज की भांति कटता प्रतीत होता है।

रोग का निदान

1. रोग का निदान उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर किया जा सकता है।

2. सूजे भाग को चीरकर उसमें से निकले रक्त की एक बूंद स्लाइड पर रख कर सूक्ष्मदर्शी द्वारा परीक्षण करके रोग के जीवाणु का निदान किया जा सकता है।

3. वातानिरपेक्षी (एनएरोविक) परिस्थितियों में उपर्युक्त माध्यम में जीवाणु सवंर्धन करके रोग के जीवाणुओं को पहचाना जा सकता है। संदूषित पदार्थ को गिनी पिग में इंजेक्शन देकर रोग के लक्षण प्रकट किये जा सकते हैं।

रोग का उपचार

1. इस रोग का संतोषप्रद उपचार नहीं है परन्तु रोग के प्रारम्भ में वयस्क को 20–30 लाख यूनिट पैनिसिलीन का इंजेक्शन दिया जा सकता है। पैनिसिलीन को रोग के एंटीसीरम अथवा सल्फामोराजीन के साथ मिलाकर लगाने से और गुणकारी प्रभाव पड़ता है।

2. रोग फैलने के समय लंगड़ी एंटीसीरम का प्रयोग करना चाहिए। इसका प्रभाव लगभग 15 दिनों तक रहता है। इसकी 10–40 मि.लि. मात्रा त्वचा के नीचे इंजेक्शन द्वारा लगानी चाहिए। रोगी पशु में यह मात्रा 30–100 मि.लि. हो सकती है।

3. चीरा लगाने के पश्चात सूजन को टिंचर आयोडीन अथवा मरक्यूरिक क्लोराइड 1:1000, पोटेशियम परमैंगनेट 1:500 के घोल में से किसी एक के द्वारा धोना चाहिए। चीरा लगाने से अत्यधिक संख्या में इस रोग के जीवाणु बाहर निकल कर वातावरण को दूषित कर देते हैं अतः इससे बचना ही उचित होगा।

4. 33.33 प्रतिशत सल्फामेजाथीन सोडियम का घोल 70–100 घ.से. की मात्रा में अंतःशिरा इंजेक्शन द्वारा देने से आशातीत लाभ होता है।

आजकल हॉस्टासाइक्लिन, ओम्नासिलीन, आम्नामाइसीन, टेरामाइसीन, एम्पीसिलीन तथा स्टेक्लीन आदि प्रतिजैविक पदार्थों का औषधियों में प्रचलन है।

रोग की रोकथाम एवं बचाव

1. रोग ग्रस्त पशुओं को पृथक करना।

2. मृत पशुओं को चूने के साथ जलाना अथवा गहरा गड्ढा खोद कर दबा देना चाहिए।

3. पशुशाला को जीवाणु संक्रमण से मुक्त करना।

4. रोगी पशु के संपर्क में आये स्वस्थ पशुओं पर दृष्टि रखना और संदेह होने पर पृथक कर देना।

5. जहां ये रोग अधिक फैलता है वहां वर्षा से पूर्व इस रोग के वैक्सीन के टीके लगा देने चाहिए। लगभग 6 माह से 3 वर्ष की आयु के पशुओं को टीके लगाये जाते हैं, इसका प्रभाव लगभग 18 माह तक रहता है।

क्षय रोग (ट्युबरकुलोसिस)

हिन्दी में इसे तपेदिक, टी.बी. राज्यक्षमा, क्षयरोग आदि कहते हैं।

यह एक भयंकर दीर्घकालिक छूत का रोग है। पशुओं से मनुष्यों को यह रोग लग जाने पर भयंकर परिणाम होते हैं। संसार के सभी भागों में यह रोग होता है तथा बहुत ही संक्रामक एवं घातक है।

कुलश्रेष्ठ (1980) ने हरियाणा प्रदेश की भैंसों में (1972–79) इसका संक्रमण 3.8 प्रतिशत बतलाया है। गोवंश की अपेक्षा भैंसें जो दूध उत्पादन के लिए बांध कर रखी जाती हैं, इस रोग के लिए अधिक संवेदनशील हैं। यह रोग उन पशुओं में अधिक पाया जाता है जो गन्दे एवं अंधेरे आवासों में रखे जाते हैं।

रोग के कारण

यह रोग माइक्रोबैक्टीरियम ट्युबरकुलोसिस नामक जीवाणु के द्वारा फैलता है। जीवाणु छड़ के आकार के सीधे अथवा थोड़े झुके हुए होते हैं।

रोग फैलने के ढंग

1. इसके जीवाणु रोगी पशु के दूध, जूठा एवं दूषित चारा दाना, मलमूत्र, थूक, कफ तथा बर्तनों के द्वारा स्वस्थ पशु के मुख से प्रविष्ट होकर शरीर में चले जाते हैं।

2. रोगी पशु के कफ एवं थूक आदि से जीवाणु निकलकर वायु में आ जाते हैं और वहां से स्वस्थ पशु की श्वांस नली द्वारा उसके शरीर में प्रविष्ट पा जाते हैं।

3. अयन व्याधियों के उपचार के समय दूषित यंत्रों के प्रयोग से क्षयरोग के जीवाणु पशु के शरीर में प्रविष्ट पा जाते हैं।

रोग प्रकट होने का समय (इन्क्यूवेशन अवधि)

कुछ महीनों से वर्षों तक।

रोग के लक्षण

यह एक दीर्घकालीन रोग है जो धीरे–धीरे रोगी के शरीर पर प्रभाव डालता है। इसके बाह्य लक्षण बहुत दिनों में प्रकट होते हैं। फेफड़ा, पेट तथा अयन आदि अंगों पर इस रोग के जीवाणु संक्रमण करके उसी प्रकार के लक्षण प्रकट करते हैं।

(i) फेफड़ों का क्षय रोग

इस अवस्था में पशु के खांसने से उसके मुंह से सूखा कफ निकलता

है। पशु को थोड़ा बहुत घटने–बढ़ने के साथ सदैव ही ताप रहता है। पशु लगातार दुर्बल होता जाता है। आगे चलकर पशु की नाक के रास्ते श्लेष्मा एवं पीप मिश्रित स्राव निकलता है तथा बलगम में भी पीप मिश्रित होने लगती है जो पशु द्वारा निगलनी प्रारंभ हो जाती है। इस दशा में पशु उच्च ताप से पीड़ित रहने लगता है। स्टेथास्कोप से निरीक्षण करने पर छिद्रित (वैसकुलर) मर्मर के स्थान पर चुरचुराहट की आवाज सुनाई पड़ती है। अब पशु अत्यंत जीर्ण होकर श्वांस लेने में कष्ट का अनुभव करता है। लसिका ग्रथियों (लिम्फेटिक ग्लैण्ड्स) आकार में बढ़ जाती है और संपूर्ण शरीर की श्लेष्मिक झिल्लियां रक्तहीन होकर पीली पड़ जाती हैं। अंत में पशु की मृत्यु हो जाती है।

(ii) पेट गुहा का क्षय रोग

इस अवस्था में पशु के आहार में कमी हो जाती है। पशु के शरीर के विभिन्न आंतरिक अंग, आंत्र, पैन्क्रियाज, यकृत एवं प्लीहा रोग ग्रस्त हो जाते हैं। पशु को अफारा रहता है। पेट में दर्द रहता है, पतला पड़ जाता है जिसमें पीप और आंव मिश्रित होकर आने लगती है।

(iii) अयन का क्षय रोग

इस भाग पर संक्रमण से अयन में कड़ापन आ जाता है और गांठें पड़ जाती हैं प्रायः पिछले स्तनों पर जीवाणु आक्रमण करते हैं। दूध नलिकाओं द्वारा जीवाणु अयन में प्रवेश करते हैं। अयन के एक अथवा अधिक भागों में बिना दर्द वाली सूजन हो जाती है और वह दूध निकालने के पश्चात भली–भांति संकुचित नहीं होता है। अयन से निकला दूध पानी की तरह पतला परन्तु बाद में हरापन लिए हुए पीले रंग में बदलने लगता है। दूध में फटे दूध की भांति छीछड़े भी मिलते हैं। इस प्रकार के दूध में रोग के जीवाणु उपस्थित होते हैं।

रोग का निदान

(i) रोग के उपर्युक्त लक्षणों पर निदान किया जा सकता है। यद्यपि स्पष्ट लक्षण प्रकट होने तक रोग पुराना हो जाता है।

(ii) दूध, बलगम, योनि प्रसव तथा मल–मूत्र आदि से स्लाइड पर पतला लेप बनाकर जील नीलसन स्टेन (अभिरंजक) से उपचारित करके सूक्ष्मदर्शी द्वारा परीक्षण करने से इस रोग के जीवाणु की पहचान की जा सकती

है।

(iii) रोगी पशु के उक्त पदार्थों का संवर्धन करके भी जीवाणुओं की पारिवारिक विशेषताओं का अध्ययन किया जा सकता है और ग्रहणशील पशु में इंजेक्शन द्वारा रोग उत्पन्न भी किया जा सकता है।

(iv) इस रोग के निम्नलिखित तीन प्रमुख परीक्षण हैं:

(अ) अन्तः त्वचा परीक्षण (इन्ट्राडरमल टेस्ट)

इस परीक्षण में पशु की ग्रीवा के निकट थोड़े से स्थान के बाल काट कर स्प्रिट से साफ कर लिया जाता है। त्वचा में 0.1 घ.से. (1–2 बूंद) ट्यूबरकुलीन का इंजेक्शन दे दिया जाता है इसके पश्चात् 24, 48 तथा 72 घंटों के पश्चात् उस स्थान की माप की जाती है। क्षय रोग में यह सूजन गर्म दर्द वाली तथा आकार में बड़ी होती है।

(ब) अधरत्वक (सब कुटेनियस) परीक्षण

परीक्षण के पूर्व पशु का ताप ज्ञात कर लेते हैं। ट्यूबरकुलीन की 3 मि. लि. मात्रा का प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग से पशु का ताप बढ़ जाता है। स्वस्थ पशु के शरीर का ताप 2.5 डिग्री सैल्सियस से नीचे रहता है यदि परीक्षण में ताप न बढ़े तो पशु क्षय रोग से ग्रसित नहीं है।

(स) नेत्रों द्वारा परीक्षण

इसमें ट्युबरकुलीन की एक बूंद आंख में डाल दी जाती है जिससे कुछ ही घंटों में रोगी पशु की आंखों में गाढ़ा दूधिया रंग का चिकना पदार्थ निकलता है और आंख फूल जाती है। निरोगी पशु की आंखों में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(v) रेडियोग्राफी विधि से निदान करने के लिए पशु के रोग ग्रस्त अंगों का चित्रण किया जाता है जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि किस अंग में क्षय रोग का संक्रमण हो रहा है।

रोग का उपचार

आर्थिक दृष्टि एवं परिचारकों को रोग लग जाने वाला भयंकर छूत का रोग होने के कारण उपचार संभव नहीं है।

(i) रोगी पशु को स्ट्रेप्टोमाइसीन का इंजेक्शन देते हैं।

(ii) औषधि के रूप में पैराअमीनो सिलीसायनिक अम्ल भी लाभप्रद है।

(iii) पशुओं को रोग से मुक्ति दिलाने के लिए बी.सी.जी. (बैसिलस कालमेत एण्ड गुरीन वैक्सीन) टीके लगाना संतोषप्रद है परन्तु इसका प्रभाव मात्र 6 माह तक रहता है। इसकी मात्रा (5–10 मि.ग्रा.) प्रति दो वर्ष पश्चात् अन्तः शिरा द्वारा दी जाती है परन्तु त्वचा के नीचे इंजेक्शन देने पर प्रति वर्ष इसकी अधिक मात्रा (50–100 मि.ग्रा.) लाभप्रद पाई गई है।

रोक की रोकथाम एवं बचाव

(i) रोगी पशु को नष्ट कर देना चाहिए तथा नये पशु ट्युबरकुलीन परीक्षण में सफल होने के पश्चात् ही क्रय करना चाहिए।

(ii) रोगी पशुओं के संपर्क में आने वाली वस्तुओं तथा उनके मल–मूत्र को जला देना चाहिए। नांद, दीवार एवं फर्श आदि का निसंक्रमण करना चाहिए।

(iii) क्षय रोग से ग्रसित पशु से प्राप्त दूध का उपयोग नहीं करना चाहिए। संदेहप्रद पशुओं के दूध का प्रयोग करने से पूर्व उसे आधा घंटा तक उबालना चाहिए।

(iv) स्टैपिंग आउट विधि के द्वारा पशुओं का ट्यूबरकुलीन परीक्षण करके जो पशु रोग से पीड़ित होते हैं उन्हें नष्ट कर दिया जाता है। इसके पश्चात 6 माह के बाद पुनः परीक्षण किया जाता है। यह परीक्षण उस समय तक चलते रहते हैं, जब तक कि पशु समूह में रोग ग्रसित पशु मिलते रहते हैं।

(v) बैंग विधि को अपनाने पर जन्म के तुरंत पश्चात बच्चों को मां से अलग कर दिया जाता है। वीनिंग विधि से बच्चों का पालन–पोषण करने से जब वे बड़े हो जाते हैं तो उनका ट्युबरकुलीन परीक्षण किया जाता

है। इस परीक्षण में सफल बच्चों का एक पृथक यूथ विकसित किया जाता है जो पूर्ण रूप से क्षय रोग से मुक्त होते हैं।

(vi) क्षय रोग से ग्रस्त रोगी का प्रोटीन एवं विटामिन युक्त आहार प्रदान करने से औषधियां खिलाने का अधिक लाभ होता है।

(vii) क्षय रोग का उपचार प्रारंभ करने के पश्चात् औषधियों का कोर्स पूरा करना चाहिए अन्यथा रोग के जीवाणु इन औषधियों के प्रतिरोधी हो जाते हैं।

सूखा रोग (जोहंस)

इसके हिंदी नाम पुराना कीटाणु अतिसार, दीर्घकालिक बैसिलेरी अतिसार आदि है।

क्षय रोग की भांति यह भी एक भंयकर छूत का रोग है। इसमें छोटी एवं बड़ी आंत सूजकर खराब हो जाती है। वैज्ञानिक जोन ने अमेरिका में 1895 में इस रोग के जीवाणु सर्वप्रथम ज्ञात किये उन्हीं के नाम पर इस रोग का नाम जोहन्स रोग पड़ा है। इस रोग का प्रकोप 3–6 वर्ष की आयु के पशुओं में अधिक होता है।

कुलश्रेष्ठ, आदि (1980) ने हरियाणा में इसका संक्रमण 3.6 प्रतिशत प्रतिवेदित किया है।

रोग के कारण

यह रोग माइक्रो बैक्टीरियम–पैरा ट्युबरकुलोसिस जीवाणु के पशु की आहार प्रणाली में प्रवेश कर जाने के कारण फैलती है। इस जीवाणु को जोने बेसिलस के नाम से भी पुकारते हैं।

रोग फैलने के ढंग

रोग के जीवाणु रोगग्रस्त पशु के मल–मूत्र, चारा, पानी, बर्तनों आदि को दूषित कर देते हैं। जब कोई स्वस्थ पशु इन पदार्थों के संपर्क में आता है, तो उसकी आहार नलिका में ये जीवाणु प्रवेश करके रोग उत्पन्न कर देते हैं। स्वस्थ पशुओं का यह रोग संदूषित पशु आवासों एवं चरागाहों से भी लग

जाता है।

रोग प्रकट होने का समय (इन्क्यूवेशन अवधि)

अनिश्चित काल (6 माह से 1 वर्ष अथवा अधिक)।

रोग के लक्षण

(i) पशु कें शरीर में इस रोग का विकास धीरे–धीरे होता है। अनायास ही पशु के रोगग्रस्त हो जाने पर क्षय रोग की भांति बहुत दिनों के पश्चात् इसके लक्षण प्रकट होते हैं।

(ii) रोग के लक्षण बहुधा पशु के दुर्बल होने अथवा बच्चा देने के पश्चात प्रकट होते हैं।

(iii) पशु का स्वास्थ्य दिन–प्रतिदिन गिरता जाता है और वह चारा भी भली–भांति नहीं खाता है। पशु के शरीर का ताप सामान्य से थोड़ा अधिक पाया गया है। पशु धीरे–धीरे दुर्बल हो जाता है।

(iv) रोगी को पतले, बदबूदार दस्त होते हैं जिसमें गैस के बबूले उठते दिखाई देते हैं। इस अवस्था में पशु महीनों अथवा वर्षों चलता है।

(v) रोगी पशु का मांस सूखने लगता है, निर्बलता और अधिक बढ़ जाती है। पशु चलने–फिरने से भी विवश हो जाता है, आंखें गड्ढों में धंस जाती हैं, पशु लेटा रहता है और अंत में उसकी मृत्यु हो जाती है।

मृत्यु के पश्चात पशु की आंतों का निरीक्षण करने पर श्लेष्मिक झिल्ली की मोटाई सामान्य मोटाई से पांच गुनी मोटी और झुर्रियोंदार दिखाई देती है।

रोग का निदान

(i) रोगी पशु को बार–बार पेचिश होने और पशु की धीरे–धीरे दुर्बल होने तथा उपर्युक्त अन्य लक्षणों को देखकर निदान किया जा सकता है।

(ii) रोगी के मलाशय को खरींच कर अथवा उसके मल का स्लाइड पर पतला लेप बनाकर उसे जीहल नीलसेन अभिरंजक से उपचारित करके

सूक्ष्मदर्शी द्वारा, रोग के अम्ल–स्थाई (एसिड फास्ट) जीवाणु का अध्ययन किया जा सकता है।

(iii) जोनिन परीक्षण द्वारा रोग का निदान करने के लिए 0.2 मि.लि. जोनिन का इंजेक्शन पूंछ के पुटक (कोडल फोल्ड) पर त्वचा के दोनों पर्तों के मध्य दिया जाता है। पुनः 48 घंटों के पशत पशु का निरीक्षण किया जाता है। रोग ग्रस्त पशु में टीका लगाने के स्थान पर गर्म तथा दर्दयुक्त सूजन हो जाती है परन्तु स्वस्थ पशुओं में ये प्रतिक्रिया नहीं होती है।

रोग का उपचार

(i) लक्षण प्रकट होने तक पशु का बचना कठिन हो जाता है और आर्थिक दृष्टि से इस प्रकार के रोगी पशु का उपचार लाभकारी नहीं है। प्रारंभ में रोग का पता चल जाने पर दस्त रोकने के लिए औषधि और दुर्बलता से बचाव के लिए टोनिक एवं उत्तम खाद्य पदार्थ रोगी पशु को प्रदान करना चाहिए। पशु को नियमित रूप से स्तंभक औषधियां देने से दस्त नियंत्रण हो सकता है। स्तंभक मिश्रण निम्न प्रकार से तैयार करते हैं।

फेरी सल्फ – 150 ग्राम
एसिड सल्फ – 150 मि.लि.
पानी – 570 मि.लि.

इस मिश्रण की 30 मि.लि. मात्रा पशु को प्रातः एवं संध्या नित्य पिलानी चाहिए।

(ii) सल्फागुंआनीडीन गोलियां तथा सल्फामेजाथीन का 33.33 प्रतिशत घोल भी लाभप्रद है।

(iii) जीवाणु रहित अस्थिचूर्ण की 30–60 ग्राम मात्रा नित्य देने से रोगी को लाभ होता है।

रोग की रोकथाम एवं बचाव

इस रोग की रोकथाम भी क्षय रोग की भांति ही की जा सकती है।

ऐन्थ्रेक्स

हिंदी में इसे गिल्टी, जहरी बुखार, प्लीहा का बुखार, विषहरी आदि कहते हैं।

उष्ण देशों में यह रोग फैलता है। तराई वाले क्षेत्रों में वर्षा के पश्चात यह रोग फैलता है। हाफिज (1952) के अनुसार भारत में, भैंसें इस रोग के लिए अधिक संवेदनशील हैं। दलदली एवं पानी भरे स्थानों पर गोवंश की अपेक्षा भैंसों में यह रोग अधिक होता है। इन स्थानों पर एक बार संक्रमण हो जाने पर अनिश्चित काल तक रोग के जीवाणु बने रहते हैं।

रोग के कारण

बेसिलस एन्थ्रेक्सि नामक जीवाणु द्वारा यह रोग फैलता है। ये जीवाणु बीजाणु बनाने वाले होते हैं। जीवाणुओं की लंबाई 4–8 म्यु तथा चौड़ाई 1–1.5 म्यु होती है और 32–38 डिग्री सैल्सियस ताप पर इनकी संख्या में अत्यधिक वृद्धि होती है। बीजाणु शुष्क परिस्थिति में भी 40 डिग्री सैल्सियस ताप पर कई घंटों में नष्ट होते हैं।

रोग फैलने के ढंग

(i) दूषित पानी पीने तथा चारा खाने से रोग के जीवाणु पशु के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। कुत्ते, कौवे, गिद्द आदि भी मृत पशु के शरीर के अंगों को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाते हैं, जिससे संक्रमण फैलता है।

(ii) रोगी पशुओं की ऊन तथा चमड़ा आदि से भी यह रोग स्वस्थ पशुओं को लग जाता है।

(iii) पशु के खुले घाव अथवा खरोंच के द्वारा जीवाणु स्वस्थ पशु के शरीर में प्रवेश कर रोग उत्पन्न कर देते हैं। मक्खियों द्वारा भी रोगी पशु से स्वस्थ पशु के शरीर में रोग के जीवाणु प्रवेश पा जाते हैं।

रोग प्रकट होने का समय (इन्क्यूवेशन अवधि)

इस रोग के लक्षण प्रकट होने का समय प्रातः 24–28 घंटे है परन्तु कभी–कभी 14 दिन भी लग जाते हैं।

रोग के लक्षण

रोग की निम्नलिखित तीन अवस्थाओं के अनुसार रोग के लक्षण प्रकट होते हैं।

(i) अति तीव्र अवस्था (परएक्यूट फोर्म)

घातक अवस्था में पशु की 2–3 घंटों में मृत्यु हो जाती है। पशु में अचानक दांत पीसने के लक्षण प्रकट होते हैं। पशु कंपकंपाकर घडाके से पृथ्वी पर गिरता है। आँखें लाल हो जाती हैं तथा सांस लेने में कठिनाई होती है। मुंह, नाक एवं मलाशय से रक्त मिश्रित झागदार स्राव आता है और कुछ ही क्षणों में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

(ii) तीव्र अवस्था (एक्यूट फोर्म)

इस अवस्था में पशु अत्यधिक बेचैन होता है, पैर लडखडाते हैं और ताप 41 डिग्री सैल्सियस तक पहुंच जाता है। पशु सुस्त रहता है, कान नीचे गिरा लेता है, नाक और मुंह लाल हो जाता है तथा त्वचा सूज जाती है। पशु का कांपना, नाड़ी का तेज चलना और पेट में जोर का दर्द होना भी इस रोग के लक्षण हैं। पशु के शरीर के प्राकृतिक छिद्रों से काला कोलतार जैसा चमकदार झाग युक्त स्राव निकलता है जो कि जमता नहीं है। कुछ पशुओं की जिव्हा एवं मुंह में छाले भी पडते देखे गये हैं और उनके मुंह से रक्त मिली लार निकलती है। कोख, गले और कभी–कभी वक्षस्थल पर कड़ी एव गर्म सूजन हो जाती है, बाद में रक्त मिले दस्त होकर 24–48 घंटों में पशु की मृत्यु हो जाती है। मृत्यु उपरांत परीक्षण में पशु के प्लीहा का आकार बड़ा पाये जाने के कारण इस रोग को 'प्लीहा का ज्वर' कहा जाता है।

अनुतीव्र अवस्था (सब एक्यूट फोर्म)

इस अवस्था में लगभग सभी लक्षण अनुतीव्र अवस्था में प्रकट होते हैं, उच्च ताप, क्षुधा में मन्दी, जुगाली न करना, पेट का फूल जाना, मुंह, नाक एव अंतड़ियों से रक्त युक्त स्राव इत्यादि लक्षण प्रकट करके 2–6 दिनों में पशु की मृत्यु हो जाती है।

मृत्यु के पश्चात् पशु का शरीर फूल जाता है, त्वचा सड़ जाती है और नथुनों एवं मलाशय से झागदार रक्त निकलता है।

रोग का निदान (डायागनोसिस)

(i) रोग के उपर्युक्त लक्षणों को देखने से रोग की पहचान की जा सकती है।

(ii) रोगी पशु के रक्त से स्लाइड तैयार की जाती है जिसका अभिरंजन (स्टेनिंग) मेथिलीन ब्ल्यु के घोल में किया जाता है। सूक्ष्मदर्शी में इन जीवाणुओं का परीक्षण करने पर उनका रंग नीला दिखाई देता है। इस रोग के जीवाणुओं की लंबाई 3–8 म्यु और व्यास 1–1.2 म्यु पायी गयी है। जीवाणु चैन की आकृति में दिखाई देते हैं।

(iii) जीवाणुओं को अनुकूल माध्यम में उगाने के पश्चात उनका परीक्षण किया जाए तो इस रोग के जीवाणु सूक्ष्मदर्शी में स्त्रियों के उलझे बालों अथवा भेड़ की ऊन के गुच्छे की भांति दिखाई देते हैं।

(iv) दूषित पदार्थ को लवणीय घोल में घोलकर, गिनी पिग में इंजेक्शन देने पर 36–48 घंटों में रोग के लक्षण प्रकट करने के पश्चात् गिनी पिग की मृत्यु हो जाती है।

(v) मृतक पशु के अंगों से सत्व तैयार करके एण्टी ऐन्थ्रेक्स हाई पैरीम्यून सीरम मिला कर परीक्षण किया जाता है जिसमें श्वेत अवक्षेप बन जाता है। इस परीक्षण को ऐस्कोली परीक्षण भी कहते हैं।

रोग का उपचार

रोग के लक्षण प्रकट होने के पश्चात् इसका कोई उपचार नहीं है अपितु रोगग्रस्त पशु को थोड़ा आराम पहुंचाया जा सकता है।

(i) रोग के प्रारंभ में 100–150 घ.से. एण्टी ऐन्थ्रेक्स सीरम, अन्तः शिरा अथवा अधस्त्वक् इंजेक्शन देकर पशु को बचाया जा सकता है।

(ii) पेन्सिलीन का 20–30 लाख यूनिट का अधस्त्वक् इंजेक्शन देते हैं और इसके पश्चात् प्रति चार घंटों के अंतराल पर 2 लाख यूनिट का इंजेक्शन देना चाहिए।

(iii) यदि रोग अधिक बढ़ गया हो तो पेन्सिलीन का 30–60 लाख यूनिट

का इंजेक्शन देना चाहिए और पुनः 24 घंटों के पश्चात 30 लाख यूनिट का इंजेक्शन देना चाहिए।

(iv) 33.33 प्रतिशत सल्फामेजाथीन सोडियम घोल 30–40 घ.से. ग्रीवा के एक ओर तथा 50 घ. से. सीरम का इंजेक्शन ग्रीवा के दूसरी ओर देने से लाभ होता है।

(v) कार्बोलिक अम्ल का 10 प्रतिशत घोल अन्तः शिरा द्वारा दिया जाता है।

आजकल इस रोग के उपचार के लिए ओम्नामाइसीन, म्यूनोमाइसीन, एम्पीसिलीन, ओम्नासिलीन, टेरामाइसीन तथा होस्टासाइक्लीन नामक इंजेक्शन लाभप्रद सिद्ध हो रहे हैं।

रोग से बचाव एवं रोकथाम

(i) महामारी फैलने पर स्वस्थ पशुओं को जो रोगी पशुओं के संपर्क में न आये हो, ऐन्थ्रेक्स स्पोर वैक्सीन अथवा पाश्चर डबल वैक्सीन के टीके लगवायें। इससे पशुओं के शरीर में एक वर्ष तक रोग रोकने की शक्ति आ जाती है।

(ii) रोगी पशुओं के संपर्क में आये स्वस्थ पशुओं को 10–25 घ.से. की मात्रा में एण्टीसीरम का इंजेक्शन दिया जाता है। इससे 14 दिनों के लिए रोग प्रतिरक्षा हो जाती है और यदि आवश्यकता हो तो 14 दिन के पश्चात् इस इंजेक्शन को दोहराया जा सकता है।

(iii) मृत पशुओं को जलाने अथवा दबाने के लिए ले जाने के पूर्व सभी प्राकृतिक छिद्रों को 1:1000 मरकरी क्लोराइड के घोल अथवा फिनाइल में भिगोई हुई रूई को निचोड़कर बंद कर देना चाहिए। ऐसा करने से रास्ते में किसी प्रकार का स्राव पशु के शव से निकलकर नहीं गिरेगा।

(iv) रोग से मरे पशु की न तो त्वचा उतारनी चाहिए और न परीक्षण के लिए शव को खोलना चाहिए।

(v) रोगी पशु के संपर्क में आई हुई नष्टकीय वस्तुओं तथा उसके मल–मूत्र को पशु के मरने के स्थान पर ही जला देना चाहिए।

(vi) मृत पशु के शव को 1.5–2.0 मीटर गहरा गड्ढा खोदकर और उसके चारों ओर 20–30 से.मी. मोटी चूने की तह लगाकर मिट्टी में दबा देना चाहिए। शव को भली भांति न दबाये जाने पर केंचुए इस रोग के बीजाणु भूमितल पर लाकर छोड़ देते हैं, जिससे रोग फैल जाता है। अतः जलाने की विधि को अधिक उपर्युक्त माना जाता है।

संक्रामक गर्भपात (कन्टेजिअस एबोरसन)

हिन्दी में इस रोग को हमल गिरना एवं बैंग रोग कहते हैं।

पशुओं का यह भयानक संक्रामक रोग है जिससे पशुओं में किसी भी अवस्था में भ्रूण का गर्भपात हो सकता है और इस रोग से ग्रसित मादा पशु बांझ भी हो सकता है।

कुलश्रेष्ठ, आदि (1980) ने 1972–79 के मध्य हरियाणा प्रदेश में 3.3 प्रतिशत संक्रमण प्रतिवेदित किये हैं।

रोग के कारण

इस रोग का जीवाणु ब्रूसेला एबोरटस है। इस रोग के जीवाणु गर्भाशय, भ्रूण तथा फेफड़ों में रहते हैं। रोगी पशु के दूध में भी ये जीवाणु पाये गये हैं। इस प्रकार के दूध का सेवन करने से मनुष्यों को अंडयुलैंट ज्वर का रोग हो जाता है।

रोग फैलने के ढंग

गर्भपात होने के पश्चात भैंस की योनि से निकलने वाले स्राव से ही मुख्य रूप से रोग फैलता है। यह रोग एक पशु से दूसरे पशु में निम्नलिखित ढंग से फैलता है।

(i) दूषित चारा, दाना तथा पानी के प्रयोग से पशु के शरीर में अन्न नाल द्वारा जीवाणु प्रवेश कर जाते हैं। रोगग्रस्त पशु को चाटने से भी यह रोग लग जाता है।

(ii) प्राकृतिक विधि से प्रजनन कराने पर रोगी सांड़ों से इस रोग के जीवाणु मादा की जननेन्द्रियों में प्रवेश कर जाते हैं। इसी प्रकार मादा से सांड़ों

को भी यह रोग लग जाता है। कृत्रिम विधि में प्रयोग किये जाने वाले यंत्र यदि जीवाणु रहित न हो तो भी रोग फैलने की संभावना रहती है।

(iii) रोगी पशुओं के संपर्क में रहने वाले परिचालकों के दूषित जूते कपड़े आदि भी इस रोग के फैलाने में सहायक होते हैं।

(iv) कभी–कभी त्वचा एवं कंजन्कटाइवा द्वारा भी रोग पशुओं को लगते देखा गया है।

रोग प्रकट होने का समय (इन्क्यूवेशन अवधि)

इसमें 33–100 दिन का समय लगता है।

रोग के लक्षण

(i) गर्भपात इस रोग का प्रधान लक्षण है।

(ii) पशु को उच्च ताप रहना, सुस्ती तथा बेचैनी होना, भूख का कम लगना, कष्टप्रद श्वसन, पशु का दुर्बल हो जाना, 5–8वें माह गर्भपात हो जाना, इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं।

(iii) गर्भपात के पूर्व योनि का सूजना तथा उससे बादामी रंग का तरल पदार्थ निकलना भी इसके महत्वपूर्ण लक्षण है।

(iv) रोग के जीवाणुओं द्वारा गर्भनाल (प्लेसेन्टा) में सूजन आ जाने के कारण गर्भपात हो जाता है। प्रायः मरा हुआ बच्चा गर्भाशय से बाहर निकलता है परंतु यदा–कदा यह जीवित भी हो सकता है जो प्रसव के तुरंत पश्चात मर जाता है।

(v) गर्भनाल के शरीर के अंदर रह जाने और सड़ जाने से पशु के शरीर का रक्त दूषित हो जाता है तथा पशु की मृत्यु हो जाती है।

(vi) पशु के शरीर के निचले भगों उदाहरणार्थ उदर नाल एवं जोड़ों में सूजन प्रतीत होती है। सांड़ों के घुटने और टखने भी सूज जाते हैं।

रोग का निदान

(i) उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर रोग का निदान किया जा सकता है।

(ii) भ्रूण की आंतों से तरल पदार्थ लेकर, स्लाइड पर पतला लेप करके सूक्ष्मदर्शी द्वारा निरीक्षण किया जाता है। इससे रोग के जीवाणु की पहचान की जा सकती है।

(iii) रोगग्रस्त पशु के रक्त का सीरम लेकर सेलाइन के साथ घोल बनाकर समूहन (एग्लूटिनेशन) परीक्षण सम्पन्न किया जाता है।

रोग का उपचार

(i) इस रोग का कोई उपचार नहीं है। गर्भपात होने के पश्चात् गर्भाशय को किसी पूर्तिरोधी (एण्टीसेप्टिक) घोल से धोना चाहिए।

(ii) इसके अतिरिक्त फाइजर द्वारा निर्मित, 'मेस्टालॉन यू', हैक्स्ट द्वारा निर्मित, 'टोनोफास्फोन', मे. एण्ड बेकर द्वारा बनाई गई 'बेटोस्टीरोल' आदि औषधियों को संक्रामक गर्भपात रोग से लाभ प्राप्त करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

रोग की रोकथाम एवं बचाव

(i) रोगी पशुओं को स्वस्थ पशुओं से अलग रखना चाहिए। गर्भपात से प्राप्त भ्रूण, प्लेसेन्टा तथा अन्य पदार्थों को जला कर गड्ढ़ों में चूने के साथ दबा कर नष्ट कर देना चाहिए।

(ii) जीवाणु नाशक घोल द्वारा रोग ग्रस्त पशुओं को धोना चाहिए। चार से आठ वर्ष के बच्चों का ब्रूसेला एबोरटस के अधस्त्वक् इंजेक्शन टीका लगाना चाहिए।

थनैला (मेसटाइटिस)

इस रोग के हिन्दी में अन्य नाम स्तन शोथ, गार्गेट, अयन का शीत आदि हैं।

गाय की अपेक्षा भैंस का अयन अधिक लटकता हुआ होता है अतः भैंसों के अयन में चोट लगने की अधिक संभावना रहती है। भैंस के स्तनों के स्फिन्कटर पेशियों में चिकने पेशीय रेशों (स्मूथ मसिल फाइवर) की अधिक मात्रा होने के कारण, उनमें रोग संक्रमण की अधिक संभावना होती है।

थनों का रोग होने के कारण यह रोग मादा पशुओं में ही होता है। प्रायः अच्छे दुधारू पशुओं में यह रोगा होता है। सेठी (1953) के अनुसार यह रोग 20.7 प्रतिशत भैंसों में पाया गया था। बंबई, पंजाब एवं मैसूर में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद द्वारा कराये गये सर्वेक्षणों के अनुसार यह रोग भारत में एक समस्या है।

कपूर एवं चुघ (1989) के अनुसार संगठित फार्मों पर लक्षणहीन गुप्त रूप में यह रोग 63–74 प्रतिशत पाया गया था। क्वार्टर के आधार पर लक्षणहीन थनैला रोग का 2.75–7.5 प्रतिशत एवं गुपत थनैला रोग का 18.50–28.5 प्रतिशत पाया गया है। शुक्ला एवं सुपेकर (1983) ने इन्दौर एवं मैसूर में लक्षणहीन थनैला रोग 96.18 प्रतिशत प्रकाशित किया है। सिंह (1982) के अनुसार कवक के द्वारा फैलने वाला थनैला रोग का प्रतिशत 0.2 पाया गया है। लक्षण प्रकट करने वाले रोग में 18 प्रतिशत एवं लक्षणहीन थनैला रोग में दूध उत्पादन में 12 प्रतिशत गिरावट प्रतिवेदित ही गई है।

रोग का कारण

इस रोग को फैलाने में अनेक जीवाणुओं का हाथ होता है।

जीवाणु का नाम	प्रतिशत
स्ट्रेप्टोकोकाइ एगैलेक्शिये	30.1–76.01
स्टैफाइलोकोकाइ	21.61–59.6
कोरायने बैक्टीरियम पायोजिनेस	2.13
माइक्रोबैक्टीरियम ट्यूबरकुलोसिस	0.12
बी. कोलाई	0.12–5.3

कपूर (1989) ने प्रतिवेदित किया है कि 597 भैंसों पर किये गये अध्ययनों से थनैला रोग में निम्नलिखित जीवाणुओं का योगदान था।

जीवाणु का नाम	प्रतिशत
स्टैफाइलोकोकस इपीडरमाइडिस	19.1
स्ट्रेप्टोकोकस डिसगालासी	17.00
स्टैफाइलोकोकस ओरियस	16.3
कोराइने बैक्टीरियम स्पीसीज	12.8
स्ट्रेप्टोकाकस एगालाक्सी	8.13
ईश्चरिचिया कोलाई	6.5
लेबसीला स्पीसीज	2.16
माइकोकोकाइ	1.89
बेसिलस स्पेसीज	1.21
स्यूडोमोनास ओरूजीनोसा	0.67
डिपलोकोकस न्युमोनो	0.54
एस्परजिलस स्पेसीज	0.63
प्रोटिअस	0.27

भैंसों में थनैला रोग सामान्यतः स्ट्रेप्टोकाकस जीवाणुओं द्वारा ही फैलता है परन्तु भारतवर्ष में मुख्य रूप से इस रोग के कारण स्टैफाइलोकोकाइ ही पाये जाते हैं।

रोग फैलने का ढंग

जीवाणुओं के अतिरिक्त पशुशाला का कुप्रबंधन रोग के प्रकोप में सहायक होता है, दूध निकालने वाले ग्वाले के गंदे हाथ, पशुशाला के गंदे एवं दूषित फर्श, सफाई का अभाव, पशुशाला में मक्खियों की अधिकता, दोष पूर्ण दोहन आदि कारणों से रोग फैलाने वाले जीवाणुओं को संक्रमण का अवसर मिलता है। दूध निकालने के त्रुटिपूर्ण प्रयोग से अथवा अन्य कारणों से थनों में चोट अथवा रगड़ लग जाने से भी रोग फैल सकता है।

रोग के लक्षण

साधारणतः यह रोग अयन तक ही सीमित रहता है। इसकी निम्नलिखित तीन अवस्थायें हैं।

(i) तीव्र थनैला (एक्यूट मेसटाइटिस)

प्रारंभ में ताप में वृद्धि भूख में कमी, बेचैनी, अयन का दर्द एवं इसका रंग लाल होना और छूने में गर्म लगना, बाद में बढ़ती हुई सुस्ती, ताप का गिरना, अयन का ठंडा एवं कड़ा होना, थनों से एकाएक दूध का स्राव बंद हो जाना आदि मुख्य लक्षण है। थनों से निकला हुआ दूध पहले कुछ पीलापन लिए होता है जो बाद में गहरे लाल रंग का हो जाता है।

(ii) अनुतीव्र थनैला (सब एक्यूट मेसटाइटिस)

इस अवस्था में भी उपर्युक्त लक्षण होते हैं परंतु वे धीरे–धीरे प्रकट होते हैं और कम हानिप्रद होते हैं। अयन से निकाले गये दूध में छीछड़े तथा एफीथीलियल कोशिकायें मिलती हैं।

(iii) चिरकारी थनैला (क्रानिक मेसटाइटिस)

इस अवस्था में भी उपर्युक्त लक्षण होते हैं जिससे रोग प्रकट होने में पर्याप्त समय लग जाता है। इसमें अयन का आकार बड़ा और छूने में कड़ा हो जाता है और दबाने पर उसमें दर्द नहीं होता है। स्तनों से निकला हुआ दूध पतला एवं छीछड़े युक्त होता है। धीरे–धीरे अयन क्षीण हो जाता है। दूध की मात्रा घटने लगती है और अंत में पशु दूध देना बंद कर देता है।

रोग का निदान

(i) उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर रोग की पहचान की जा सकती है।

(ii) कुछ महत्वपूर्ण परीक्षणों के द्वारा इस रोग का निदान किया जा सकता है।

(अ) अयन तथा स्तर परीक्षण

जो पशु पर्याप्त समय से रोग ग्रस्त हों, उन्हीं में यह परीक्षण सफलतापूर्वक किया जा सकता है। स्तनों से संपूर्ण दूध निकालने के पश्चात अयन को हाथ से थपथपाने पर अयन का कड़ापन तथा फूला होना अनुभव किया जा सकता है। स्तनों का छोटा–बड़ा होना और उनसे निकलने वाले दूध की मात्रा कम होना एवं देखने में अच्छा न होना भी ज्ञात किया जा सकता है।

(ब) स्ट्रिप परीक्षण

विशेष प्रकार के छलनी वाले प्याले में से दूध निकालने के पूर्व प्रथम दो–चार धारें डालने के पश्चात् यदि दूध की फुटक अथवा थक्का दिखाई दे तो यह थनैला की पहचान है।

(स) चखकर परीक्षण

सामान्य दूध में 0.12 प्रतिशत के लगभग सोडियम क्लोराइड होता है परंतु थनैला रोग से पीड़ित पशु के दूध में यह मात्रा बढ़कर 1.4 प्रतिशत अथवा अधिक हो जाती है जिससे दूध का स्वाद नमकीन लगता है।

(द) अम्लीयता परीक्षण

सामान्य दूध में रोग ग्रसित पशु के दूध की अपेक्षा अधिक अम्लीयता होती है। सामान्य दूध की पी.एच. 6.6 से 6.8 परंतु थनैला रोग से ग्रसित पशु के दूध की पी.एच. 7.4 तक पाई गई है।

3. सूक्ष्मदर्शी परीक्षण

इस विधि से निम्नलिखित परीक्षण सम्पन्न किये जा सकते हैं।

(अ) लेप परीक्षण

इस विधि में दूध का अपकेन्द्रण कर लिया जाता है जिससे उसका रेतीला भाग नीचे बैठ जाए। निस्सारित द्रव की स्लाइड बना लेते हैं जिसको माइक्रोस्कोप में देखकर परीक्षा की जा सकती है।

(ब) बीजाणु परीक्षण

इस परीक्षण के लिए कांच की स्वच्छ एवं जीवाणु रहित शीशियों में थनों से नीचे दूध निकाल कर भर लेते हैं। इन शीशियों को 37 डिग्री सैल्सियस पर 12–24 घंटों के लिए इन्क्युवेट कर दिया जाता है एवं तत्पश्चात् स्लाइड पर पतला लेप बना कर परीक्षण किया जाता है।

(स) संवर्धनीय परीक्षण

दूध के अपकेन्द्रण के पश्चात जो पदार्थ सतह में बैठ जाता है, उसका

संवर्धन कर लिया जाता है और इससे स्लाइड बना कर सूक्ष्मदर्शी में परीक्षण कर लिया जाता है जिससे जीवाणु की पहचान की जा सके।

4. रासायनिक परीक्षण

इस परीक्षण को संपन्न करने के लिए फाइजर द्वारा निर्मित, 'मैस्टाइटिस रिएजेंट' अथवा गलैक्सको द्वारा निर्मित 'मैस्टेड घोल' को उपयोग कर सकते हैं।

रिएजेंट द्वारा परीक्षण के लिए, सफेद रंग के प्याले में लगभग 2 मि. लि. दूध में, निर्देशों के अनुसार रिएजेंट मिलाकर प्याले को घुमाते हैं। यदि दूध फट जाए और थक्का जम जाए तो निश्चित हो जाता है कि पशु थनैला से ग्रसित है। दूध अधिक अम्लीय होने पर पीला परंतु क्षारीय होने की दशा में नीला लोहित हो जाता है।

'मेस्टेड घोल' द्वारा परीक्षण करने पर प्लास्टिक अथवा पोर्सलीन के प्याले में लगभग 3 मि.लि. दूध में उतना ही घोल मिलाते हैं। परिधि में घुमाने पर यदि मिश्रण में अवक्षेप अथवा छलनी (जाली) बन जाए तो थनैला रोग निश्चित है।

रोग का उपचार

यदि प्रारंभिक अवस्था में ही रोग के लक्षण प्रकट हो जाएं तो उपचार संभव है परंतु जीवाणुओं का समुचित विकास हो जाने पर इसके उपचार में सफलता नहीं मिलती है।

(i) बाह्य उपचार

रोग ग्रसित एवं फूले अयन पर आयोडीन मरहम अथवा लिनीमेंट लगाकर सेंक करने से आशातीत लाभ होता है। पानी में मैगसल्फ, बोरिक अम्ल अथवा नीम की पत्तियां डालकर भी अयन की सिंकाई की जा सकती है।

(ii) प्रतिजीवी (एंटीबायोटिक)

थनैला रोग के उपचार के लिए पैनिसिलीन, स्ट्रप्टोमाइसीन, अरोमाइसीन एवं टेरामाइसीन प्रतिजीवियों का उपयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है। दस–बीस

लाख यूनिट का मांसपेशी में टीका देने और एक लाख यूनिट पैनिसिलीन अथवा स्ट्रेप्टोपैनिसिलीन घोल को रोग ग्रसित स्तन में चढ़ाने में पर्याप्त लाभ होता है। इसके अतिरिक्त 400 मि.ग्रा. ओरोमाइसीन के घोल को स्तनों में चढ़ाने से तीव्र थनैला रोग में भी लाभ होता है। प्रतिजीवियों को प्रयोग करने पर 5–7 दिनों तक पशु का दूध नहीं पीना चाहिए।

(iii) पूतिरोधी (एंटीसेप्टिक) एवं सल्फ औषधियों का प्रयोग

डैक्सोन के तैलीय अथवा 1:1000 एक्रोफ्लेविन घोल का अंतःस्तनीय (इन्ट्रामेयरी) इंजेक्शन देने से लाभ होता है। सल्फाडिमिडीन आदि सल्फ औषधियां खिलाने से भी लाभ होता है। तरल औषधि को इंजेक्शन लगाने वाली पिचकारी में भर कर स्तन साइफन की सहायता से स्तन के अंदर प्रविष्ट किया जा सकता है परन्तु इसके पूर्व दूध निकाल देना चाहिए। दूध निकालने के लिए भी साइफन का प्रयोग करना चाहिए।

4. एकस्वकृत (पेटेन्ट) औषधियां

आजकल अनेक औषधियां मेम्टालॉन, टेरामाइसीन, आरोमाइसीन, पेन्डिस्ट्रीन, नेफ्युरॉन तथा मैस्टासिलीन आदि एकस्वकृत रूप में बाजार में उपलब्ध हैं जो थनैला रोग में अत्यधिक लाभदायक हैं।

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली से थनैला रोग के लिए निम्नलिखित औषधियां स्वीकृत की गई हैं।

मिश्रण-1

औषधि का नाम	शक्ति एवं मात्रा
प्रोकेन पैनिसिलीन, जी	50,000–10,000 यूनिट
आसुत (डिस्टिलड) पानी	10–20 घं.से.

मिश्रण-2

प्रोकेन पैनिसिलीन, जी	10,000 यूनिट
डाइहाइड्रो स्ट्रेप्टोमाइसीन	100 मि.ग्राम
33.33 प्रतिशत सल्फामेजाथीन सोडियम का घोल	4 घं.से.
आसुत (डिस्टिल्ड) पानी	10–20 घं.से.

मिश्रण-3

प्रोकेन पैनिसिलीन, जी	50,000–10,000 यूनिट
डाइहाइड्रो स्ट्रैप्टोमाइसीन	100 मि.ग्रा.
33.33 प्रतिशत सल्फामेजाथीन सोडियम घोल	5 घं.से.
आसुत (डिस्टिल्ड) पानी	10–20 घं.से.

आजकल स्तनों में चढ़ाने के लिए बाजार में अनेक औषधियां उपलब्ध हैं।

निर्माण करने वाली कंपनी	औषधि का नाम
फाइजर	टेरामाइसीन एवं मेस्टालॉन
साराभाई केमिकल्स	पेन्डिस्ट्रिन तथा पेन्डिस्ट्रिन एच.एच.
सायनामाइड	ऑरोमाइसनी ट्यूब
मे. और बेकर	पैनिसिलीन युक्त प्रोटैगान
ग्लैक्सो	प्रोकेन पैनिसिलीन वेटेरेनरी सीरेट
मैनेले और जेम्स	वेटिओक्स
ए.के.एफ.	नेफ्यूरॉन

रोग की रोकथाम एवं बचाव

(i) रोग सामान्यतः कुप्रबंधन से फैलता है अतः ग्वालों के हाथों, कपड़ों, दूध निकालने की मशीन, बर्तनों, पशुशाला और पशु के अयन की सफाई पर अत्यधिक ध्यान देना चाहिए।

(ii) स्तनों पर यदि चोट लग जाए तो शीघ्र ही उपचार करना चाहिए।

(iii) थनैला रोग की आशंका होने पर अति शीघ्र इसका उपचार करना चाहिए, अन्यथा स्तनों के रोग ग्रस्त हो जाने पर उनका रूप बिगड़ जाता है और स्तनों के द्वारा यदि क्षय रोग के जीवाणु प्रवेश कर जाएं तो इस रोग में जटिलता आ जाती है।

(iv) पोटेशियम परमैंगनेट के घोल से स्तन तथा हाथ धोकर नित्य दूध निकालने से पशु को यह रोग लगने की संभावना कम रहती है।

न्यूमोनिया

इसके अतिरिक्त फुप्फुस दाह और फेफड़े का प्रदाह आदि भी इसके नाम हैं।

पशुओं के यह फेफड़ों का रोग है।

रोग के कारण

इस रोग का जीवाणु न्युमोनोकोकाई है।

रोग फैलने का ढंग

इस रोग के जीवाणु श्वांस नली द्वारा पशु के फेफड़ों में प्रवेश कर रोग फैलाते हैं।

रोग के लक्षण

(i) तीव्र (एक्यूट) न्यूमोनिया

पशु की नाड़ी गति बढ़ जाती है, उच्च ताप होता है, श्वांस में कष्ट होता है, नथुने फैले रहते हैं, पहले पानी जैसा और बाद में श्लेष्मा मिश्रित पीप जैसा गाढ़ा पदार्थ नाक से स्रवित होता है। पशु द्वारा दांत पीसना, रोग ग्रसित फेफड़े की ओर लेटना आदि इस अवस्था में मुख्य लक्षण प्रकट होते हैं। स्टेथॉस्कोप द्वारा परीक्षण करने अथवा फेफड़ों पर कान लगाकर सुनने से फेफड़ों में घरघराहट की आवाज सुनाई देती है, रोग का प्रकोप बढ़ने के साथ इस आवाज में तीव्रता आती है परन्तु फेफड़ों के पूर्ण रूप से क्षतिग्रस्त हो जाने पर आवाज सुनाई नहीं देती है।

(ii) ब्रोन्कोन्यूमोनिया

प्रारंभ में खांसी परन्तु इसके पश्चात उच्च ताप, मुंह खोलकर श्वसन, जुगाली में व्यवधान, नाक से गाढ़ा स्राव, भूख का कम होना आदि इस अवस्था के मुख्य लक्षण हैं।

(iii) चिरकारी न्यूमोनिया

इस अवस्था में लक्षण धीरे–धीरे पर्याप्त समय में प्रकट होते हैं। पशु

को रूक–रूक कर खांसी आती है और श्वांस लेने में कठिनाई होती है। नाड़ी की गति क्षीण एवं अनियमित हो जाती है। फेफड़ों से घरघराहट की आवाज सुनाई देती है।

रोग का निदान

रोग के उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर तथा स्टेथोस्कोप के द्वारा फेफड़ों का परीक्षण करके रोग का निदान किया जा सकता है।

रोग का उपचार

(i) रोग की संभावना होने पर पशु को स्वच्छ एवं हवादार वातावरण में अन्य पशुओं से अलग रखना चाहिए।

(ii) न्यूमोनिया रोग में दस्तावर एवं पिलाने वाली औषधियों का प्रयोग हानिकर होने के कारण वर्जित है। औषधि सदैव चटनी एवं इंजेक्शन के द्वारा देनी चाहिए।

(iii) पशु के वक्षस्थल पर तारपीन के तेल की मालिश करके, गर्म सेंक करनी चाहिए। दिन में 2–3 बार पशु को यूकेलेप्टिस अथवा तारपीन का तेल, उबलते हुए पानी में डालकर बफारा देना चाहिए। पशु को मोटे कपड़े से ढककर गर्म रखना चाहिए।

(iv) उपचार के लिए निम्नलिखित मिश्रण चटनी के रूप में देना हितकर है।

अर्क बेलाडोना	–	2 मि.लि.
पोटेशियम क्लोरेट	–	8 ग्राम
शीरा	–	आवश्यतानुसार

(v) सल्फाडाइजीन, सल्फाट्रायड एवं सल्फामेजाथीन का प्रयोग न्यूमोनिया के निवारण में लाभकारी होता है।

(vi) प्रतिरोधी (एंटीबायोटिक) औषधियां उदाहरणार्थ – पैनिसलीन अथवा स्ट्रेप्टोपैनिसिलीन प्रति वयस्क पशु 20–30 लाख यूनिट की दर से 3–4 दिनों तक इंजेक्शन द्वारा देने से रोग समूल नष्ट हो जाता है। इनसे लाभ न होने पर टेरामाइसीन, होस्टासाक्लीन एवं म्यूनोमाइसीन आदि उच्च प्रतिरोधी औषधियों को प्रयोग किया जा सकता है।

रोक की रोकथाम एवं बचाव

कम आयु एवं दूध पीने वाले बछडों में रोग का प्रकोप उन्हें प्रायः नाल से दूध पिलाने के कारण हो जाता है। अतः नाल से दूध नहीं पिलाना चाहिए। पशुओं को स्वच्छ, हवादार स्थानों पर रखना चाएि परन्तु अधिक ठंड से बचाव करना चाहिए। रोग हो जाने पर पशु को अन्य स्वस्थ पशुओं से अलग रखना चाहिए।

विषाणु रोग

विषाणुओं द्वारा अनेक निम्नलिखित रोग फैलते हैं।

पशुप्लेग (रिंडर पेस्ट)

इस रोग के स्थानीय नाम पौंका, पोकनी, माता, पकवेदन, शीतल, पकवा एवं पोंकनी–माता आदि हैं।

यह एक भयानक संक्रामक रोग है, इससे लाखों पशु प्रतिवर्ष मौत के मुंह में चले जाते हैं। गायों की अपेक्षा भैंसें इसके लिए अधिक ग्रहणशील हैं और इनमें यह रोग अधिक तीव्र रूप में प्रकट होता है।

रोग के कारण

यह रोग प्रति सूक्ष्म विषाणु (अल्ट्रा विजीविल वाइरस) द्वारा फैलता है। रोगी के शरीर के सभी उत्सर्जन पदार्थों एवं स्रावों में यह विषाणु पाया जाता है।

रोग फैलने के ढंग

(i) चारा, पानी, बर्तन तथा परिचारकों के कपड़े आदि रोगी के मलमूत्र तथा लार से दूषित हो जाते हैं और स्वस्थ पशुओं के संपर्क में आने से उन्हें रोगी कर देते हैं।

(ii) मक्खियों तथा परजीवियों द्वारा भी यह रोग फैलता है।

(iii) श्वांस नली तथा कंजकटाइवा द्वारा भी इस रोग के विषाणु पशु शरीर में प्रवेश पाकर रोग फैलाते हैं।

रोग प्रकट होने का समय (इक्यूवेशन अवधि)

3–8 दिन।

रोग के लक्षण

रोग की निम्नलिखित तीन अवस्थायें होती हैं।

प्रथम अवस्था

इस अवस्था में एक साथ अनेक पशु रोगी हो जाते हैं। सर्वप्रथम पशुओं के ताप में वृद्धि होती है जो 4–5 दिनों में 40–42 डिग्री सैल्सियस हो जाता है। पशु का शरीर कांपने लगता है और उनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पशु का मुंह गर्म हो जाता है और उसकी भूख कम हो जाती है। पशु जुगाली बंद कर देता है और उसके दांतों से कटकटाहट की आवाज आती है। रोगी पशु को कब्ज हो जाने के कारण उसका मल कड़ा हो जाता है तथा इसमें रक्त सन जाता है।

द्वितीय अवस्था

पशु की आंखें लाल हो जाती हैं उनसे कीचड़ बहता है, पशु को आहार खाने में कष्ट होता है और प्यास अधिक लगती है। मुंह की श्लेष्मिक झिल्ली लाल रंग की हो जाती है और उसमें छाले पड़ जाते हैं। नाक, आंख और मुंह से पानी बहता है, नथुने और थूथन की त्वचा शुष्क होकर फटने लगती है। मलाशय की श्लेष्मिक झिल्ली रक्त वर्ण होकर शुष्क होने लगती है और पशु के पतले मल के साथ, आंव भी आती है।

तृतीय अवस्था

रोगी पशु के नाक, आंख और मुंह से मवाद जैसा लसदार पदार्थ निकलना प्रारंभ हो जाता है। इसके पश्चात् दस्त प्रारंभ हो जाते हैं। सर्वप्रथम पतले और बदबूदार दस्त होते हैं परंतु इसके पश्चात् इसमें रक्त एवं श्लेष्मिक झिल्ली भी मिली रहती है। पशु का पिछड़ा धड तथा पूंछ मल से पूर्णतया सना रहता है और पशु के पास जाने पर सड़न जैसी दुर्गंध आती है। इस अवस्था में पशु अत्यन्त दुर्बल हो जाता है और मृत्यु के सन्निकट पहुंच जाता है। पशु के शरीर का ताप सामान्य से भी कम हो जाता है। प्रायः 4–7 दिनों

में पशु की मृत्यु हो जाती है परंतु कभी–कभी पशु 3 सप्ताहों तक भी जीवित रह सकता है।

रोग का निदान

(i) ऊपर वर्णन किये गये लक्षणों को देखकर रोग की पहचान की जा सकती है।

(ii) पशु के शव परीक्षण से ज्ञात होता है कि रोगी के पेट की त्वचा सूजी है आंतों की झिल्ली रक्त वर्ण हो गई और मलाशय की श्लेष्मिक झिल्ली पर लाल, नीली धोरियां हैं।

(iii) रोगी पशु के दूषित द्रव लेकर स्वस्थ पशु के शरीर में इंजेक्शन द्वारा प्रविष्ट कराने पर रोग के लक्षण प्रकट किये जा सकते हैं।

रोग का उपचार

इस रोग का कोई सफल उपचार नहीं है। ब्लड, आदि (1983) के अनुसार रोग फैलने के भय से इसका उपचार नहीं किया जाना चाहिए।

(i) लक्षण प्रकट होने के पूर्व यदि एंटी पशु प्लेग सीरम उपलब्ध हो तो 100–200 घ.से. की मात्रा में रोगी पशु को इंजेक्शन द्वारा देने से लाभ होता है।

(ii) यदि पशु को कब्ज हो तो 500 ग्राम अलसी का तेल पिलाना चाहिए। रोगी पशु के शरीर को मोटा कपड़ा, कंबल, टाट आदि से ढक कर गर्म रखना चाहिए। पशु को शीघ्र पचने वाले खाद्य पदार्थ खिलाने चाहिए। पशु को धूप एवं तीव्र वायु से बचाना चाहिए। चावल का मांड एवं कार्बोलिक अम्ल का थोड़ा–सा घोल तेल के साथ पिलाने से लाभ होता है। दस्त बंद करने के लिए, निम्न औषधि दी जा सकती है।

पिसी हुई खड़िया	60 ग्राम
सौंफ	15 ग्राम
कत्था	15 ग्राम
बेलगिरी	30 ग्राम
अफीम	2 ग्राम

इन सबको बारीक पीसकर चावल के मांड के साथ दिन में 2–3 बार पिलाना चाहिए।

(iii) रोगी पशु को 33.30 प्रतिशत सल्फामेजाथीन सोडियम घोल का त्वचा के नीचे अथवा शिरा में इंजेक्शन देने से लाभ होता है। युवा पशु को प्रथम मात्रा 50–70 घ.से. परंतु दूसरी बार 30 घ.से. देना चाहिए।

(iv) सल्फामेजाथीन की 5 ग्राम वाली गोलियां, प्रथम बार 5 गोली, इसके पश्चात 3 तथा इसके पश्चात 2 गोली, दस्त रोकने में अत्यंत लाभकारी हैं।

रोग की रोकथाम एवं बचाव

इस रोग के उपचार के स्थान पर रोकथाम एवं बचाव पर अधिक ध्यान देना चाहिए। रोगी पशुओं और उनके संपर्क में आये पशुओं को पृथक् कर देना चाहिए। स्वस्थ पशुओं को पशु प्लेग वैक्सीन का टीका देना चाहिए।

विश्व के विभिन्न देशों में निम्नलिखित वैक्सीन प्रचलित हैं।

(i) बकरी ऊतक विषाणु टीका

इसको जी.टी.वी. भी कहते हैं। यह टीका शुष्क चूर्ण के रूप में 0.25 ग्राम की मात्रा में कांच की ऐम्पूलों में सील किये गये रूप में उपलब्ध है। यह ऐम्पूल 100 पशुओं के लिए पर्याप्त है। रेफ्रीजिरेटर में इसे लगभग एक माह तक परंतु थर्मस फ्लास्क में बर्फ के मध्य लगभग एक सप्ताह तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

टीका लगाने से पूर्व एम्पूल को तोड़ कर जीवाणु रहित खरल में डालकर सामान्य सेलाइन के घोल में रगड़ कर घोलते हैं। इसके पश्चात इसे 100 घ.से. बनाने के लिए अधिक सेलाइन मिलाते हैं। यह तैयार किया गया टीका 100 पशुओं के लिए पर्याप्त है। इस टीके से पशु को 7 वर्ष के लिए रोग प्रतिरक्षा हो जाती है।

(ii) लैपीनाइज्ड विषाणु टीका

यह टीका खरगोश के शरीर में विषाणु को उगाकर बनाया जाता है।

इस टीके को जी.टी.वी. से भी उत्तम माना जाता है। यह टीका 7–8 माह के गाभिन पशुओं को भी दिया जा सकता है।

(iii) पक्षीय विषाणु टीका

यह टीका विषाणु को कुक्कुट अंडों में उगाकर बनाया जाता है। विदेशों में आजकल इसी का सर्वाधिक प्रचलन है। इसके प्रयोग से 5 वर्ष तक रोग प्रतिरक्षा हो जाती है।

गांवों में टीका लगाने के लिए सभी पशुओं को गांव के किनारे बाग अथवा खेत में एकत्रित करके एक समूह में टीका देते हैं। यह कार्य प्रातःकाल करना चाहिए। जो पशु 5 माह से अधिक गाभिन हों, उन्हें टीका नहीं लगाते हैं। बच्चे जिनकी आयु 6 माह से ऊपर हो, 1 घ.से. प्रति बच्चे को टीका लगाया जाता है।

रोगी पशु के संपर्क में आये स्वस्थ पशुओं को उपलब्ध हो तो 15–20 घं.स. की मात्रा में टीका लगाना चाहिए। इनसे 10–14 दिनों तक रोग से प्रतिरक्षा हो जाती है।

खुरपका मुंह पका (फुट एण्ड माउथ) रोग

इसके अन्य हिंदी नाम खूरा, खौरा, पका एवं खंगवा आदि हैं। यह एक अतिशीघ्र फैलने वाला संक्रामक रोग है। विश्व में सभी देशों में यह रोग फैलता है। रोगग्रस्त पशु के बच्चे जन्म से पूर्व ही पशु के पेट में मर जाते हैं और पशु का मूल्य कम हो जाता है। दत्ता (1983) के अनुसार उत्तर–पूर्वी भारत में इसके 70 संक्रमण हुए जिसमें 3769 भैंसों की मृत्यु हुई।

रोग के कारण

यह रोग कई विषाणुओं द्वारा फैलता है। यूरोपियन देशों में तीन प्रकार के विषाणु, ए.ओ. एवं सी. इस रोग को फैलाते हैं परन्तु एशिया में सेट–1, सेट–2 एवं सेट–3 विषाणुओं द्वारा यह रोग फैलता है।

हमारे देश में इस रोग को फैलाने वाले चार स्ट्रेन (एशिया–1, ए.ओ. एवं सी.) तथा एक उपस्ट्रेन (सब–टाइप) ए–22 पहचान किए गये हैं।

रोग प्रकट होने का समय (इन्क्यूवेशन अवधि)

1–6 दिनों में लक्षण प्रकट होते हैं।

रोग फैलने के ढंग

(i) रोगी पशु की लार स्वस्थ पशु को लग जाने से रोग लग जाता है।

(ii) दूषित चारा, दाना, पानी, नांद, दूध एवं दूध पदार्थ, बर्तन फर्श तथा परिचारकों के कपड़ों द्वारा भी रोग फैलता है।

(iii) पक्षियों द्वारा भी इस रोग के विषाणु स्वस्थ पशु तक पहुंच कर रोग लगा देते हैं।

(iv) रोग से ठीक हुए पशुओं में भी विषाणु छिपे रहते हैं और जब कभी वे स्वस्थ पशुओं के संपर्क में आते हैं तो उन्हें रोग लग जाता है।

रोग के लक्षण

(i) रोगग्रस्त पशु को उच्च ताप (40–60 डिग्री सैल्सियस) परन्तु कभी–कभी इससे भी अधिक हो जाता है। पशु आहार एवं पानी लेना बंद कर देता है, जुगाली भी बंद हो जाती है, उसके मुंह से लार बहती है तथा होठों से चपचपाहट की आवाज आती है। रोगी पशु सुस्त होकर, नीची ग्रीवा करके खड़ा रहता है, दूध उत्पादन घट जाता है।

(ii) पशु के होंठ नथुनों तथा जीभ पर छाले पड जाते हैं। छाले फूट जाने से जीभ पर लाल घाव बन जाता है और अत्यधिक लार गिरती है। घावों के ऊपर बाह्य त्वचा (इपीथीलियल मेम्ब्रेन) बन जाती है।

(iii) पशु के पैरों के कोरोनेट पर छाले पड़ जाते हैं। एक या अधिक पैर प्रभावित होते हैं, पशु लंगड़ाता है। पशु बार–बार अपने पैर पृथ्वी पर झटकता है। घाव फूटने पर बादामी छिलके (स्क्रेप्स) बन जाते हैं। कभी–कभी पैरों पर पीप पड जाने से खुर पृथक हो जाता है। घाव लगभग 2 सप्ताह में भरने लगते हैं और इसके पश्चात् उस स्थान पर दाग नहीं पडते हैं।

(iv) रोगी पशु के अयन एवं स्तनों पर भी लाल रंग के दर्द वाले छाले पाये

जाते हैं। कभी–कभी इस रोग से थनैला रोग भी उत्पन्न हो जाता है। गाभिन भैंसों में गर्भपात की संभावना रहती है।

रोग का निदान

पशु के रोग के लक्षणों को देखकर रोग का निदान किया जा सकता है। संदेह होने पर रोगी पशु के छालों से द्रव लेकर गिनी पिग में इंजेक्शन देने से यदि इस रोग के लक्षण प्रकट हो जाएं तो रोग निश्चित रूप से समझना चाहिए।

रोग का उपचार

(i) रोगी पशु के छालों को पोटेशियम परमैगनेट, फिटकरी, बोरिक अम्ल, फार्मलीन, सुहागा आदि के घोलों से धोकर छालों पर, सुहागा (1 भाग) एवं शहद (4 भाग) का मिश्रण मिलाकर लगाने से शीघ्र लाभ पहुंचता है। छालों पर बोरो–ग्लिसरीन का लेप भी किया जा सकता है।

(ii) पैरों के छालों पर 1 प्रतिशत तूतिया अथवा फिनाइल का घोल दिन में कई बार डालना चाहिए। खुरों के बीच के घावों पर पूतिरोधी पाउडर उदाहरणार्थ जिंक ऑक्साइड, बोरिक अम्ल, सल्फोनामाइड अथवा सिवाजोल को छिड़का जाना चाहिए। पशु द्वारा खुर न चाटने से बचाने के लिए खुरों पर पट्टी बांध सकते हैं। यदि घावों में कीडे पड़ जाएं तो फिनाइल का प्रयोग करना चाहिए।

(iii) यदि एक साथ अधिक पशु रोग ग्रस्त हो जाएं तो उन्हें पाद स्नान (फुट बॉथ) कराना चाहिए।

(iv) पशु के मुंह के छालों एवं पैरों के घावों को शीघ्र अच्छा करने के लिए पशु को 10 मि.लि. टेरासाइलीन अथवा ऐम्पीसिलीन के 5–7 इंजेक्शन देने चाहिए।

रोग की रोकथाम एवं बचाव

(i) इस रोग को रोकने के लिए एक प्रथा प्रचलित है जिसे एपथाइजेशन कहते हैं। इसमें रोग ग्रसित पशु की लार को उसके साथ वाले सभी पशुओं के मुंह में लगा देते हैं। इससे शीघ्र ही रोग हल्के रूप में सभी

पशुओं को हो जाता है और शीघ्र ही पशुओं में इस रोग के प्रति प्रतिरक्षा उत्पनन हो जाती है।

(ii) जिन गांवों में रोग फैला हो, सभी पशुओं को पाद स्नान रचना 3–4 मी. लंबी, 1 मी. चौड़ी, 30 से.मी. गहरी तथा दोनों ओर एक–एक मीटर ढाल देकर तैयार की जाती है। इसमें 1 प्रतिशत तूतिया का घोल भर प्रातः एवं सायं सभी पशुओं को इसके बीच से निकाला जाता है।

(iii) पशु को खिलाया जाने वाला आहार पौष्टिक एवं कोमल होना चाहिए। हरे चारों के साथ गुड़ मिश्रित चावल का दलिया खिलाना लाभप्रद है। शीरे के साथ माड़ी भी पिलाई जा सकती है।

(iv) स्वस्थ पशुओं को दूसरे गांव अथवा फार्म के पशुओं से नहीं मिलने देना चाहिए।

चेचक (बफैलो पोक्स)

इसे माता, भैंस मसूरी तथा शीतला के नाम से भी पुकारते हैं।

विषाणुओं द्वारा फैलने वाला यह संक्रामक छूत का रोग है। कुमार, आदि (1987) ने हिसार में इसके संक्रमण का प्रतिवेदन किया था। राणे, आदि (1985) वैज्ञानिकों ने भैंस के बछड़ों में भैंसों के चेचक फैलाने वाले विषाणुओं को प्रविष्ट कराके इस रोग को उत्पन्न किया था।

रोग के कारण

भैंसों में यह रोग सूक्ष्म विषाणु (अल्ट्रा वाइरस) द्वारा फैलता है।

रोग फैलने का ढंग

(i) रोगी पशु के संपर्क में आये चारे, पानी, बर्तन आदि स्वस्थ पशु के संपर्क में आते हैं, तो वह रोग ग्रस्त हो जाता है। स्वस्थ पशुओं को यह रोग ग्वालों के हाथ, दूध निकालने की मशीन के द्वारा भी लग जाता है।

(ii) रोगी पशु के संपर्क में आने से स्वस्थ पशु इस रोग से पीडित हो जाते हैं।

रोग प्रकट होने का समय (इंक्युवेशन अवधि)

3–7 दिनों में रोग के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं।

रोग के लक्षण

(i) प्रारंभ में पशु का ताप बढ़ जाता है और वह सुस्त रहने लगता है। पशु आहार खाना कम कर देता है। कभी–कभी बिल्कुल छोड़ देता है।

(ii) मादा पशुओं में अयन और नरों में अंड कोषों का बाह्य आवरण फूलने लगता है जो छूने में कड़ा होता है और इन पर छोटे–छोटे दाने प्रतीत होते हैं। पशु को दूध निकालने में कष्ट होता है और दूध के उत्पादन में गिरावट आ जाती है।

(iii) पशु के शरीर में निकले हुए दाने छालों का रूप धारण कर लेते हैं। ये छाले पकने के पश्चात् छिछले घाव में परिवर्तित होकर सूखने लगते हैं। जो बाद में दाग का स्वरूप ले लेते हैं।

रोग का निदान

रोग के उपर्युक्त लक्षण देख कर पहचान की जा सकती है।

रोग का उपचार

(i) लगभग 15–20 दिनों में रोगी पशु स्वयं ठीक हो जाते हैं। रोग के कारण स्तनों की त्वचा के फट जाने पर उस पर विषाणु प्रतिरोधी औषधियों (बोरिक मरहम, पैन्सिलीन क्रीम, सल्फानिलामाइड, लोरेक्सीन क्रीम) आदि के प्रयोग से लाभ होता है। औषधि लगाने से पूर्व रोगग्रस्त स्थानों को सेलॉन, पोटेशियम परमैंगनेट अथवा मरक्युरोक्रोम के हल्के घोल से साफ कर लेना चाहिए।

(ii) रोग से ठीक हुए पशुओं को पर्याप्त समय के लिए रोग से मुक्ति मिल जाती है।

रोग की रोकथाम एवं बचाव

(i) रोगी पशुओं को स्वस्थ पशुओं से दूर रखना चाहिए। दूध निकालने के पूर्व अयन को पोटेशियम परमैंगनेट, हल्के फिनोल घोल आदि से धोकर साफ कर लेना एवं सुखा लेना चाहिए।

(ii) रोग से बचाव के लिए, ग्वालों को अपने हाथ तथा दूध के बर्तनों को साफ एवं विषाणु रहित करना चाहिए। हाथों को गर्म पानी एवं साबुन से साफ करके डिटोल अथवा सैवलॉन लोशन से धो डालना चाहिए। दूध निकालने वाले बर्तनों को पानी में विषाणु नाशक औषधि डालकर रखना चाहिए।

परजीवी (पैरासाइटिक) रोग

इसमें निम्नलिखित मुख्य रोग आते हैं।

1. चींचड़ी ज्वर (टिक फीवर)

इसके अन्य हिन्दी नाम जाड़ा बुखार, लाल पेशाब आदि हैं।

रोग फैलाने वाले परोपजीवी किलनियों के अंदर रहते हैं, जो पशु के शरीर में प्रवेश पाकर रोग उत्पनन करते हैं। यह रोग तराई के नमीदार स्थानों में, जहां किलनियों के विकास के लिए अच्छा वातावरण होता है, जोरों से फैलता है।

रोग के कारण

बैबीसिया की निम्नलिखित प्रजातियां इस रोग को फैलाती हैं।

1. बैबीसिया बरबेरा
2. बैबीसिया बाइजेमिना
3. बैबीसिया मेजर
4. बैबीसिया बोविस
5. बैबीसिया अर्जेन्टाइना

भारतवर्ष में यह रोग मुख्यतः बैबीसिया बाइजेमिना द्वारा होता है।

रोग फैलने के ढंग

जब कोई किलनी जिसके अंदर पहले से ही इस रोग के कीटाणु विद्यमान हों, किसी स्वस्थ पशु के शरीर पर आक्रमण कर रक्त चूसती है तो परजीवी

उस पशु के शरीर में रोग के कीटाणु प्रविष्ट कर देते हैं और रोग फैल जाता है।

रोग प्रकट होने का समय

7–17 दिनों में रोग के लक्षण प्रकट होते हैं।

रोग के लक्षण

इस रोग की निम्नलिखित तीन अवस्थायें होती हैं।

1. तीव्र अवस्था

पशु को अनायास 41–42 डिग्री सैल्सियस ताप हो जाता है, उनकी नाड़ी तथा श्वांस की गति अति तीव्र हो जाती है। पशु आहार खाना एवं जुगाली करना बंद कर देता है, शरीर की श्लेष्मिक झिल्लियां पीली पडने लगती हैं और मूत्र का रंग लाल पड़ जाता है। मूत्र का रंग लाल होने के कारण, रक्त कणों से हीमोग्लोबिन का निकलना है। पशु का ताप अनायास गिर जाता है और लगभग 90 प्रतिशत पशुओं की मृत्यु हो जाती है।

2. चिरकालिक अवस्था

इस अवस्था में पशु पर रोग का प्रभाव धीरे–धीरे होता है और पशु अधिक समय तक रोगी बना रहता है। पशु को अपच एवं अनियमित ताप रहता है तथा बाद में दस्त प्रारंभ हो जाते हैं। पशु धीरे–धीरे दुर्बल होने लगता है और उसके मूत्र में एल्ब्युमिन आने लगती है। लाल रक्त कण धीरे–धीरे नष्ट होने लगते हैं जिससे पशु अति दुर्बल और मरणासन्न हो जाता है। यद्यपि इस रोग में निम्न मृत्यु दर है परंतु जो पशु मरते नहीं हैं, उन्हें स्वस्थ होने में महीनों का समय लग जाता है।

रोग का निदान

(i) रोग के ऊपर वर्णन किये गये लक्षणों को देखकर तथा पशु की जांघों एवं कानों आदि अनेक स्थानों पर चिपकी किलनियों को देख कर रोग का निदान किया जा सकता है।

(ii) पशु के रक्त का परीक्षण सूक्ष्म जीवी द्वारा करने पर रक्त कणों के साथ परजीवी, नाशपाती के आकार के जोड़े के रूप में दिखाई देते हैं।

(iii) मृत पशु के शव परीक्षण करने पर उसका यकृत एवं प्लीहा बढ़ा हुआ, मूत्राशय लाल रंग के मूत्र से भरा हुआ और शरीर की श्लेष्मिक झिल्लियों पर रक्त के धब्बे दिखाई देते हैं।

रोग का उपचार

(i) रोगी पशु के शरीर पर गैमेक्सीन एवं डी.डी.टी. को लगाकर किलनियों को नष्ट कर देना चाहिए। तत्पश्चात् 50–150 घ.से. ट्रिपेन ब्ल्यू के 1.0 प्रतिशत घोल का अंतःशिरा इंजेक्शन लगाना चाहिए।

(ii) आई.सी.आई. द्वारा निर्मित बेबेसॉन के 5.0 प्रतिशत घोल का 1.0 घ. से. प्रति क्वार्टर शरीर भार की दर से इंजेक्शन दिया जाता है। पशु के अधिक दुर्बल होने पर, इस औषधि की कुल आवश्यक मात्रा को 6 घंटों के अन्तराल पर प्रयोग किया जा सकता है।

(iii) देशी औषधियों में गुलाबी फिटकरी एवं खाने वाला सोडा प्रत्येक को 15 ग्राम की मात्रा में मिलाकर प्रातः संध्या को 8–10 दिनों तक खिलाने से पशु को आराम होता है।

(iv) रोगी पशु को कब्ज होने की दशा में हल्का दस्तावर आहार देना चाहिए। लगभग 225 ग्राम मैगसल्फ इतने ही शीरा में मिलाकर खिलाने और प्रचुर मात्रा में पानी पिलाने के पश्चात् निम्न मिश्रण देना चाहिए।

अमोनियम कार्ब	3.54 ग्राम
सोड़ा बाई कार्ब	3.54 ग्राम
फेरी कार्ब	3.54 ग्राम
जेन्शियन	3.54 ग्राम

आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में पशु को मांड पिलानी चाहिए।

(v) दुर्बल पशु के रक्त की आपूर्ति हेतु प्रौढ़ पशु को 5–10 मि.लि. की मात्रा में बेलामाइल, बीकाम एल अथवा लिवोजन का इंजेक्शन मांसपेशी में लगाना चाहिए। परजीवियों द्वारा ग्रसित रोग में रक्ताल्पता (एनीमिया) के लिए इन औषधियों का सेवन अधिक गुणकारी है।

(vi) हेक्स्ट द्वारा निर्मित बेरेनिल इस रोग की एक उपयोगी औषधि है।

रोग की रोकथाम एवं बचाव

(i) रोग फैलने पर रोग ग्रसित पशु के शरीर से 5–10 घ.से. रक्त निकालकर स्वस्थ पशु में अधस्त्वक इंजेक्शन द्वारा देने पर पशु के शरीर में रोग प्रतिरक्षा आ जाती है। ऐसा करने पर यद्यपि 7–15 दिनों तक पशु के ताप में वृद्धि होती है परन्तु 40 डिग्री सैल्सियस से अधिक ताप होने पर पशु को 1.0 प्रतिशत ट्रिपेन ब्ल्यु 100 घ.से. की मात्रा में अंतःशिरा द्वारा इंजेक्शन देने पर पशु को स्वस्थ किया जा सकता है।

(ii) पशुओं के शरीर एवं चारागाहों में डी.डी.टी. और गैमैक्सीन के द्वारा किलनियों को नष्ट करके रोग का उन्मूलन किया जा सकता है। डी. डी.टी. को 1.0–2.0 प्रतिशत घोल से पशु को नहलाने से किलनियां नष्ट हो जाती हैं।

(iii) असनतोल अथवा नेगूवान के 0.6 प्रतिशत घोल से पशु को नहलाने अथवा छिड़कने से ये कीट नष्ट किये जा सकते हैं।

2. खूनी पेचिस (काक्सीडियोसिस)

इसके हिंदी के अन्य नाम खूनी दस्त, लाल पेचिस आदि हैं। ग्रीष्म ऋतु में प्रकोप करने वाला यह एक संक्रामक प्रोटोजोअन रोग है जो बहुधा दलदली भूमि में कॉक्सीडिया द्वारा फैलता है। इसका संक्रमण अधिकतर चारागाहों में चरने वाले पशुओं को ही होता है। दस्त में रक्त तथा श्लेष्मिक झिल्ली मिली रहती है।

यह रोग यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका एवं एशिया में भी पाई जाती है जो कि प्रायः 1–2 वर्ष के परंतु कभी–कभी 7–8 सप्ताह के भैंस के बच्चों को होती है।

रोग के कारण

पोटोजोअन परजीवी कॉक्सीडियम जरनाई अथवा ईमेरिया जरनाई, इस रोग का मुख्य कारण है। इस परजीवी की युग्मन पुटी (उओसिस्ट) तथा स्पोरोजोइट अवस्थायें रोग फैलाती हैं।

रोग फैलने के ढंग

आहार नलिका द्वारा युग्मक पुटी तथा स्पोरोजोइट युक्त दूषित पानी एवं चारा का भक्षण करने से पशुओं की आंतों में यह कीट पहुंचकर रोग के लक्षण प्रकट करता है।

रोग प्रकट होने का समय

7–21 दिनों में रोग के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं।

रोग के लक्षण

(ii) प्रारंभ में पशु पतला मल करता है जिसमें रक्त के थक्के पाये जाते हैं। एक या दो दिनों में और अधिक रक्त आने लगता है। दर्द के साथ दस्त होते हैं। पशु की आहार खाने में अरूचि होती है और पशु जुगाली नहीं करता है। पशु अत्यधिक बेचैन रहता है, कभी–कभी पशु द्वारा अधिक जोर लगाने पर गर्भाशय उलट जाता है। अंत में पशु अत्यधिक दुर्बल होकर मरणासन्न हो जाता है।

(ii) मृत्यु के पश्चात् पशु आंत्र की परीक्षा करने पर वह सूजी हुई और कई गुना मोटी पाई जाती है। आंतों एवं मलाशय की श्लेष्मिक झिल्लियों पर रक्त स्राव एवं रूधिर थक्का मिलते हैं।

रोग का निदान

(i) उपर्युक्त लक्षणों को देखकर रोग का निदान किया जा सकता है।

(ii) पशु के मल का लेप स्लाइड पर लगा कर सूक्ष्मदर्शी में निरीक्षण करने पर गोल अथवा अंडाकार युग्मक पुटी स्पष्ट दिखाई देती है इसके मध्य में एक छोटा सा बिंदु होता है।

रोग का उपचार

(i) सल्फा थैलाजाल, सल्फा गुआनीडीन की गोलियां तथा सल्फा मेजाथीन की 5 ग्राम की टिकिया अथवा 33.33 प्रतिशत सोडियम घोल क्रमशः मुंह एवं अंतःशिरा द्वारा इंजेक्शन लगाने पर आशातीत लाभ होता है। इन औषधियों से कॉक्सीडिया नष्ट हो जाती है और पशु रोग मुक्त हो जाता है।

(ii) पशु के मलाशय द्वारा 1.0 प्रतिशत फिटकरी का घोल चढ़ाने से पेट की ऐंठन एवं दर्द कम हो जाता है।

(iii) मैथलीन, ब्ल्यू डेप्सीन एवं थाइमोल का प्रयोग रोग में पर्याप्त लाभकारी होता है।

(iv) दस्त रोकने के लिए दिन में दो बार निम्नलिखित एंटीसेप्टिक तथा स्तंभक मिश्रण मिलाकर पशुओं को दिया जाता है।

क्लोरोडीन	12 मि.लि.
फीनोल	2 मि.लि.
चावल का मांड़	600 ग्राम

(v) वयस्क पशु के शरीर में निर्जलीकरण रोकने के लिए, उसे अंतःशिरा इंजेक्शन द्वारा 1000–2000 घ.से. की मात्रा में ग्लूकोज सेलाइन दिया जा सकता है।

रोग की रोकथाम एवं बचाव

(i) पशुओं के आवास में कॉक्सीडिया को नष्ट करने के लिए 10.0 प्रतिशत अमोनिया घोल छिड़काव किया जा सकता है। दूषित चारागाहों को परोपजीवी से मुक्त करने के लिए, उन्हें जोत दिया जाना चाहिए अथवा उन पर चूना छिड़क देना चाहिए। पशु के खाद्य–पदार्थों को दूषित होने से बचाना चाहिए।

(ii) रोगी पशुओं को पौष्टिक खाद्य पदार्थ खिलाये जाने चाहिए और स्वच्छ जल पिलाना चाहिए।

(iii) परजीवी कीट की रोकथाम के लिए विटामिन 'ए' अत्यधिक आवश्यक है। शरीर में इसकी उपस्थिति से पशु की रोगरोधक क्षमता में वृद्धि हो जाती है।

REFERENCES (संदर्भ)

Abdon, I.C.; del, Rosario, I.F. and Aliju, L.G. (1980). Food composition tables recommended for use in Philippines. Food and nutrition research institute and national science development board, 5th revision, p. 1–313.

Acharya, B.N. and Devadatta, S.C. (1939). Proc. Indian Acad. Sci., 10B:221.

Aggag, M.A.H. (1986). M.V.Sc. Thesis, Cairo Unit, Egypt.

Ahmad, Y.F. (1986). Ph.D. thesis, Cairo Unit, Egypt.

Agarwala, O.P. (1961). Certain factors of production in water buffalo herd. *Indian J. Dairy Sci.*, 15: 45–51.

Agarwala, O.N., Nath, K and Mahadevan, V. (1971). Phosphorus requirement of buffalo. *J. Agric. Sci.*, Comb., 76–83.

Ahuja, A.K., Bhatia, S.K. and Pradhan, K. (1972). *Indian J. Anim. Sci.*, 42: 772.

Akbar, M.A. and Gupta, P.C. (1985). Subabul (*Leucaena leucocephala*) as a source of protein supplement for buffalo calves. *Indian J. Anim. Sci.*, 54: 731.

Alim, K.A. (1953). Studies on the Egyptian buffaloes. I. Selection for milk yield. *Can. J. Agric. Sci.*, 15: 1814.

Alim, K.A. (1978). The productive performance of Egyptian buffalo in a dairy herd. *Wld. Rev. Anim. Prod.*, 14: 57–64.

Anjaneyulu, A.S.R., Sengar, S.S., Lakshmanan, V. and Joshi, D.C. (1985). Meat quality of male buffalo calves maintianed on different levels of protein. Buffalo Bull., 4(3): 45–47.

Anonymous (1987). All-India Coordinated Research Project on Buffaloes. Project Coordinator's Report on review of terminal report (1971–85). Pub. by CIRB, Hisar.

Anzelo, I.A. and Jain, M.K. (1987). *Indian J. Dairy Sci.*, 35: 519.

Arunachalam, T.V., Lazarus, A.J. and Anantakrishnan, C.P. (1952). *Indian J. Dairy Sci.*, 5: 117.

Arumugham, C. and Narayanan, K.M. (1982). *J. Dairy Res.*, 49: 81.

Arya, V.V. and Desai, R.N. (1969). Growth rate and its relationship with weight and age at first calving in buffaloes maintained on military farms. *Indian Vet. J.*, 46: 61–68.

Arora, S.P. (1980). Feeding and managment of buffalo calves for reduced mortality. In: Buffalo Management Systems, Ed. Pal, R.N. and Sastry, N.S.R., Haryana Agric. Univ., Hisar.

Arora, S.P. (1987). *Indian Fmg.*, 37: 18.

Arora, S.P. (1987b). Proc. Internatl. Symp. Milk Buff. Rep., Vol. II, Islamabad (PARC), 16–20 March, p. 506.

Arora, S.P. (1988). Feeding of dairy cattle and buffaloes. ICAR Low-priced book series No. 4, published by Publication and Information Division of Indian Council of Agricultural Research, Krishi Bhavan, New Delhi.

Asker, A.A., Ragab, M.T., Khishin, S.S. and Sheikh, A.S. (1952). Bull. Fae. Agric. Fouad., I. Univ. (Cairo). No. B–15 (ABA, 21, 1156).

Asker, A.A. and Bedeir, L.H. (1958). *Indian J. Dairy Sci.*, 11: 113.

Basavaiah, P. (1978). Annual Report, All India Coordinated Research Project on Buffaloes, Dharwad.

Basu, S.B., Sharma, P.A. and Nagarcenkar, R. (1975). Ann. Rep. Nat. Dairy Res. Inst., Karnal, p. 1139.

Basu, S.B. and Ghai, A.S. (1978). Studies on milk production in Murrah buffaloes. *Indian J. Anim. Sci.*, 48: 593–96.

Basu, S.B. and Rao, M.K. (1979). Growth pattern in Murrah Buffalo Calves. *Indian Vet. J.*, 56: 570574.

Basu, S.B. and Sarma, P.A. (1982). Cross-breeding in buffaloes. A review of agro-animal sciences and health. 6: 465–466.

Basu, S.B., Tomer, O.S. and Ghai, A.S. (1984). Genetic studies on sexual maturity traits of buffalo heifers. *Indian J. Anim. Sci.*, 54: 14.

Bayonnu, M.S. (1951). Seasonal variation in and effect of the stage of lactation on the yield and composition of milk. Ph.D. Thesis, Univ. of Wales.

Bector, B.S. and Narayanan, K.M. (1974). *Indian J. Dairy Sci.*, 27: 292.

Bhatnagar, V.K., Lohia, K.L. and Monga, O.P. (1961). *Indian J. Dairy Sci.*, 14: 102–108.

Bhattacharya, P., Luktuke, P.; Rao S.N., A.S.P. and De, S.K. (1954). *Curr. Sci.*, 23: 335–336.

Bhattacharya, N.K. (1984). Progress in embryo technology and its application in animal science. Ist National Animal Physiology Research Workers Conference, Karnal, India, p.4.

Bhattacharya, N.K., Goel, V.K., Majumdar, A.C., Nandy, D.K., Rao. V.H. and Sarmah, B.C. (1984). Research highlights animal physiology. Ann. Rep. 1984–85. DARE Min. of Agri. & Rural Development, Govt. of India, New Delhi, p. 29.

Bhattacharya, N.K., Goel, V.K., Nandy, D.K., Majumdar, A.C., Sarmah, B.C. and Rao, V.H. (1984b). Final project report – Studies on embryo technology and engineerging with particular reference to buffaloes. Div. of Physiol. & Climatol., IVRI, Izatnagar (UP), India.

Bhatia, I.S. (1967). The study of factors affecting the utilization of low grade roughages and production of VFA in the rumen of cattle. Final report, Punjab Agric. Univ., Ludhiana.

Balakrishnan, M. and Nagarcenkar, R. (1988). Effect of cooling by spraying water, wallowing and mud plaster on buffaloes during summer. Proc. II World Buffalo Conference, Vol. IV, Health and Disease, Products technology and management, p. 6: 61.

Bonadonna, T. and Roy Chaudhary, P.N. (197). Reproductive efficiency in Indian buffaloes. Zootechnia, 19: 213–214.

Carpenter, J.W. (1988). A comparison of slaughter carcass, palatability and meat processing characteristics of water buffalo and charolais bulls. Water Buffalo Newsletter, Publication No.2.

Chauhan, F.S., Takker, O.P., Soingh, M.A. and Tiwana, M.S. (1984). Proc. 10th Int. Congr. Animal Reprod. and A.I., Urbana, Vol. II, 28.

Charles, D.D. and Johnson, E.R. (1972). Carcass composition of water buffalo (*Bubalus bubalis*). *Austr. J. Agric. Res.*, 23: 905–911.

Chaturvedi, M.L., Singh, U.B. and Ranjhan, S.K. (1973). Effect of feeding water soaked and dry wheat straw on feed intake, digestibility of nutrients and VFA production in growing zebu and buffalo calves. *J. Agric. Sci.*, U.K., 80(3): 393–397.

Cockrill, W.R. (1963). Key animal in Asia's economy. Span, 9(6): 12–15.

Cockril, W.R. (1974). The Water buffalo. F.A.O. Rome.

Dube, A.R. and Gupta, S.C. (1988). Effect of seasons on composition of buffalo milk. Proc. of II Wld. Buff. Congress, Vol. III, Physiology and Reproduction, held at New Delhi from 12–16 December, p. 144.

Dave, C.N. (1938). A study of Surti buffaloes reared at the Poona Agriculture College. Dairy Agric. Livestock, India, 5: 47.

Dahiya, S.S., Mudgal, V.D. and Gupta, R. (1990). Nutrient utilisation, quantity and quality of milk produced by buffaloes fed treated wheat straw based rations. *Int. K. Anim. Sci.*, 5: 215.

Devendra, C. (1972). Malaysian *J. Agric. Res.*, 23: 905.

Desai, R.N. and Kumar, D. (1964). Methods of fitting constants and weighted squares of means to study the effect of season of calving on production traits in Murrah buffaloes. *Indian Vet. J.*, 41: 275–80.

Devendra, C. (1988). Forage supplements, nutritional significance and utilization for draught, meat and milk production in buffaloes. Invited papers and special lectures. Proc. II Wld. Buff. Congr., Vol. II, p. 409–423.

Dhorani, J., Khangharoni, S., Ziauddin and Baloch, M.A. (1983). A preliminary study on the performance of Kundi buffalo. Proc. Seminar on Buffalo Prod. in Pakistan, Lahore, 16–17 November, p. 226–32.

Dharamraj, P., Rao, M.R. and Rao, V.P. (1985). Feeding subabul leaf-meal to lactating Murrah buffaloes. *Indian J. Anim. Sci.*, 55: 389.

Deshmukh, S.B. (1987). Cited by Sastry and Verma (1988). Proc. II Wld. Buff. Congr., held at New Delhi, 12–16 December.

Dube, A.R. and Gupta, S.C. (1988). Effect of seasons on composition of buffalo milk. Proc. II Wld. Buff. Congr., Vol. III, Physiology and Reproduction, p. 144.

Dave, B.K., Chhabra, S.S., Ranjhan, S.K. and Upadhyaya, R.S (1971). *Ind. J. Anim. Prod.*, 2: 22.

Dahiya, S.S., Sengar, S.S. and Mudgal, V.D. (1991). Effect of feeding urea (ammonia) treated wheat straw with cotton seed cake on nutrient utilisation and milk production in buffaloes. *Ind. J. Anim. Sci.*, 6: 133–137.

FAO (1985). FAO production year book. Food and Agriculture Organisation of United Nations, Rome, 29: 195–200.

Fahmy, S.K., Shaheen, M.A. and Youssef, F.G. (1975). Some aspects of age and milk production in Egyptian buffaloes. *Agric. Res. Rev.* Cario, 57: 1–15.

Gaba, K.L. and Jain, M.K. (1977). *Indian J. Anim. Sci.*, 47: 312.

Gautam, J.P., Kumar, D. and Agrawal, P.C. (1973). Breeding efficiency and producing ability of Murrah buffaloes. *Indian Vet. J.*, 42: 512–16.

Gautam, J.P., Kumar, D. and Agrawala, P.C. (1965). *Indian Vet. J.*, 42: 516–19.

Ganguli, N.C. (1976). Chemistry of Buffalo milk. Pub. No. 143, National Dairy Research Institute, Karnal.

Ghosh, S.N. and Anantakrishnan (1964). Composition of milk. Part V. Effect of stage of lactation. *Indian J. Dairy Sci.*, 17: 17–28.

Garg, M.C. (1972). Effect of feeding restricted amout of milk on the growth of buffalo calves in the ration of growing buffaloes. M.Sc. Thesis, PAU, Ludhiana.

George, Kunju, P.J. and Manget, Ram (1989). Feeding urea-molasses block for higher milk production in buffaloes. Proc. Indo-Austalian Seminar on improving straw utilisation by buffaloes for growth and milk production, p. 220–229.

Gupta, P.C., Singh, K., Lodhi, G.P., Gupta, L.R. and Sharda, D.P. (1983). Effect of feeding lucerne and berseem on the milk yield, efficiency of utilisation of nutritent and cost of production in Murrah buffaloes. *Indian J. Anim. Sci.*, 53: 1181.

Gill, S.S. (1988). First Embryo Transfer at PAU, Ludhiana, India. Pashupalak, 29(4): 37.

Goe, M. and McDowell, R.E. (1980). Animal traction: Guidelines to utilisation. Corn University, International Agricultural Memeo No. 81, Ithaca, New York.

Gokhale, S.B. (1974). Inheritance of post lactation and their use in selection among Murrah buffaloes. Ph.D. thesis, Agra University, Agra.

Gonzalez, B.M. (1919). The gestation period of the Carbat. *J. Hered.*, 10: 374–37.

Gonzales, J.M., Soriano, M., Abdon, I.C. and Alefo, L.G. (1973). Nutritional evaluation of carabeef. *Phil. J. Nutr.*, 26: 107–113.

Goswami, S.B. and Nair, A.P. (1963). Studies on off-season calving in the Indian water-buffalo (*Babulus bubalis*). *Indian J. Dairy Sci.*, 17: 227–235.

Goswami, S.B. and Kumar, S. (1968). Influence of season and off-season calving and average milk yield of Indian water-buffalo on their fertility. *Indian J. Dairy Sci.*, 21: 27–36.

Gopal Krishna (1982). Nutritional evaluation of a new maintenance fodder for feeding adult buffaloes. 1. Ensiled paddy straw and potato haulm. Wld. Rev. Anim. Prod., 18(2): 29–37.

Grewal, S.S., Sastry, N.S.R. and Yadav, R.S. (1982). *Indian J. Anim. Sci.*, 52: 58.

Guha, S.R., Mukherjee, D.P. and Labhsetwar, A.P. (1959). A.I. in Farm Animals. 3rd Edn. Rutgers University Press, New Jersey.

Gupta, R.C., Grewal, A.S. and Lohia, K.L. (1963). Some observations on the gestation period in Murrah buffaloes. *Indian J. Dairy Sci.*, 17: 245–257.

Gupta, L.R., Sastry, N.S.R., Yadav, R.S. and Jaiswal, U.C. (1981). *Haryana Agric Univ. J. Res.*, 11: 134.

Gudi, A.K., Sohni, A.D. and Kukude, S.V. (1969). *Indian Vet. J.*, 46: 416–420.

Gurnani, M., Nagarcenkar, R., Gupta, S.K. and Singh, A. (1976). Seasonality of calving and its influence on economic characters of Murrah buffaloes. *Indian J. Dairy Sci.*, 29: 173.

Hadi, M.A. (1965). A preliminary study of certain productive and reproductive characters of Marathwada buffaloes at Maharashtra state. *Indian Vet. J.*, 42: 692–99.

Hafez, E.S.E. (1952). Proc. II Inter. Congr. Physiol. and Pathol. Anim. Repord. Artif. Insem., Copenhagen, 1: 101.

Herman, H.A. (1938). *J. Dairy Sci.*, 30: 757.

Hammond, J. (1954). Progress in the physiology of farm animals. Vol. I, London: Butterworth's Scientific Publications.

Ibrahim, M.N.M. (1985). Nutritional status of draught animal in Sri Lanka, ACIAR Proc. Series No. 10, p. 84–88, Edited by Copland J.W., Australian Centre for International Agricultural Research, GPO Box 1571, Canberra Act, 2601.

Ibarra, P.I. (1988). Buffalo meat qualitative and quantitative aspects. Invited papers and special lectures. Proc. II Wld. Buff. Cong., Vol. II, Part II, held at New Delhi, 12–16 December, p. 514–523.

ICAR (1939). Indian Council of Agricultural Research, Bull No. 8, New Delhi. Manager of Publications, p. 22.

Ichhponani, J.S., Gill, R.S., Makkar, J.S. and Ranjhan, S.K. (1977). *Indian J. Dairy Sci.*, 30: 173.

Ichhponani, J.S., Makkar, G.S. and Sidhu, G.S. (1962). *J. Anim. Sci*, 21: 1001.

Jain, A. and Taneja, V.K. (1982). Effects of genetic and non-genetic factors on reproduction and production traits in Murrah buffaloes. *Asian J. Dairy Res.*, 1: 123–129.

Jain, G.C. and Pandey, R.S. (1985). Influence of age, weaning season and body weight on levels of progestrone, oestradiol-17B and luteinizing hormone in growing buffalo heifers (*Bubalus bubalis). Animal Reprouduction Sci.*, 5: 181–190.

Jankiraman, K. and Mehta, V.M. (1987). Annual Report (1986–87). AICR Project on Buffalo Improvement. endocrine Unit, Anand Centre.

Javed, S.I., Rathi, S.D. and Ingle, U.M. (1986). *Indian J. Dairy Sci.*, 39: 491.

Jayasuriya, M.C.N. (1982). The utilisation of agro-industrial byproducts by growing buffalo calves. proc. Workshop on Water buffalo research in Sri Lanka, 24–28, November.

Johari, M.P. (1960). *Indian Vet. J.*, 37: 354–64.

Johari, D.C. and Bhat, P.N. (1978). Selection indices based on growth, reproduction and production traits of Indian buffaloes. *Indian J. Anim. Sci.*, 49: 79–84.

Johari, D.C. and Bhat, P.N. (1979). Effect of genetic and non-genetic factors on reproduction traits in Indian buffaloes. *Indian J. Anim. Sci.*, 49: 1–6.

Joshi, C.H. and Vyas, S.H. (1976). *Indian J. Dairy Sci.*, 29: 7.

Juma, K.H. and Alsafar, T. (1970). Studies on Iraqi buffalo milk with reference to the effect of month of lactation, milk yield and Butter fat content. *Trop. Agric.*, 47(2): 171–173.

Kaikini, A.S. and Paragaonkar, D.R. (1969). Nagpuri Buffalo. *Indian Dairyman*, 21: 47–48.

Khire, D.W., Kadu, M.S., Belorkan, P.M., Thatte, V.R. and Kaikini, A.S. (1977). Breeding efficiency and producing ability of milk in Nagpuri (Berari) buffaloes. *Indian J. Anim. Sci.*, 47: 85–87.

Kishin, S.S. (1951). *Emp. J. Exp. Agric.*, 19: 185–190.

Kanaujia, A.S., Balaine, D.S. and Rathi, S.S. (1975). Effect of some environmental and physiological factors on reproduction and production traits in Indian buffaloes. *HAU J. Res.*, 5: 179–87.

Kapur, M.P. and Chugh, S.K. (1989). Diagnostic techniques and prophylactic health care in buffaloes. Presented at 10th Workshop on AICR Project on Buffaloes and Indo-ARE Symp., held at CIRB, Hisar on 14 October.

Kaushik, S.K., Dahiya, N.S. and Mudgal, V.D. (1988). Reproductive performance of Murrah Buffaloes. II Wld. Buff. Cong., held at New Delhi, 12–16 December, p. 42.

Kearl, L.C. (1982). Nutrient requirements of ruminants in developing countries. International Feedstuffs Institute, Utah Agricultural Experiment Station, Utah State University, Logan, utah, USA.

Kodagali, S.B. and Kerur, V.K. (1968). *Gujarat Vet. J.*, 2: 29–32.

Kohli, M.L. and Malik, D.D. (1960). The effect of service period on total milk production and lactation length in Murrah buffaloes. *Indian J. Dairy Sci.*, 13: 105–111.

Kurar, C.K. and Mudgal, V.D. (1977). Annual Report, NDRI, Karnal, p. 118–120.

Kurar, C.K. (1977). Effect of plane of nutrition on the utilisation of feed nutrients for milk production in buffaloes. Ph.D. Thesis, Punjab University, Chandigarh.

Kurar, C.K. and Mudgal, V.D. (1981). *Indian J. Anim. Sci.*, 51: 817–824.

Kulshrestha, R.C., Singh, Jagjit and Chandiramani, N.K. (1980). *Haryana Vet.*, 19: 139.

Kumar, R. and Bhat, P.N. (1979). Effect of non-genetic factors on lactation length in Indian buffaloes. *Indian J. Anim. Sci.*, 48: 559–62.

Lal, P. (1977). Meat dishes. Bombay, India Book House Pvt. Ltd.

Lalitha Desh Pandey (1983). Gonadel development and activity in (Surti) male buffalo calves from birth to sexual maturity. M.V.Sc. Thesis, Gujarat Agric. University.

Langar, P.N., Sidhu, G.S. and Bhatia, I.S. (1988). *Indian J. Vet. Sci.*, 38: 333.

Laxminarayanan, M. and Ramamurthy, M.K. (1985). *Indian J. Dairy Sci.*, 38: 256.

Luktuke, S.N. and Roy, D.J. (1962). Proc. Ind. Sci. Cong. Pt. III, p. 563.

Liu Cheng Hwa and Chang Shun, Hsu (1982). Preliminary report on triple-crossbred buffaloes for selection of milk and meat purpose. Secondo Convegno Internazionale Sull'allenamento bufalino nel mondo, Atti del Convegno.

Lakshmanan, V. (1981). Annual Scientific Report, Division of Livestock Products Technology, IVRI, Izatnagar.

Lakshmanan, V., Kondaiah, N. and Anjaneyulu, A.S.R., (1984). Variety meat of buffalo. *Buff. Bull.*, 3: 6–8 and 17.

Madan, M.L. (1987). Endocrine causes of anoestrus and late maturity. Proc. Internat. Sump. Milk Buff. Rep., Vol. II, Islamabad (PARC), p. 162.

Madan, M.L., Singla, S.K., Singh, C., Prakash, B.S. and Jailkhani, S. (1988). Embryo transfer technology in buffaloes. Endocrine responses and limitations. Proc. II Wld. Buff. Cong., Vol.III– Physiology and Reproduction, held at Delhi, 12–16 December, p. 195–211.

Mahadevappa, R., Bhatnagar, D.S. and Gurnani, M. (1971). Annual Report, NDRI, Karnal, p. 37.

Pandey, M.D. and Raizada, B.C. (1979). Overcoming summer sterility in buffalo bulls and cows. FAO Anim. Prod. Hlth., 13: 235.

Pandya, M.P. and Patel, B.M. (1972). *Indian J. Dairy Sci.*, 25: 215.

Pandit, R.K., Gupta, S.K. and Raman, S.R. (1982). *Livestock Adviser*, 7: 51–53.

Paul, T.M., Anwar, S. and Unikrishnan, V. (1983). *J. Fd. Sci. Tecjh.*, India 20: 36.

Phillips, R.W., Johnson, R.G. and Meyer, R.T. (1945). Livestock of China. Washington, US Govt. Printing Press Office, 66.

Panjarathinum, R. and Laxminarayana, H. (1974). *Indian J. Anim. Sci.*, 44: 111.

Pant, H.C. and Roy, A. (1970). *Indian J. Anim. Sci.*, 40: 600.

Perdock, H.B., Muttettuwegama, G.S., Kasslheiter, G.A., Boon, H.M. and Jayasuria, M.C.N. (1984). Production responses of lactating or growing reminants for urea ammonia treated paddy straw with or without supplements. In: The Utilisation of Agric. Residues, p. 213–250.

Pradhan, K. (1986). Annual Progress Report of the PL-480 research project on "Effect of Dietary Proteins and Fibre Sources on the Efficiency of Nutrient Utilisation in Cattle and Buffalo", Deptt. Anim. Nutr., College of Animal Sci.

Prasad, D. (1987). Study on digestion and metabolism of nutrients related to buffalo, cattle and sheep. Ph.D. thesis.

Pradhan, B. and Sastry, N.S.R. (1987). *Indian J. Anim. Prod. Mgmt.*, 3.

Punj, V.K., Sinha, R.N., Sharma, D.D. and Ranganathan, B. (1977). *Indian J. Anim. Sci.*, 47: 12.

Ragab, M.T., Asker, A.A. and Kamal, T.H. (1958). The effect of age and season of calving on the composition of Egyptian buffalo milk. *Indian J. Dairy Sci.*, 11(1): 18–28.

Ragab, M.T., Shafie, M.M. and Kilani, M. (1971). *Anim. Breed. Abst.*, 39: 4421.

Raghavan, G.V., Mullick, D.N. and Daniel, S.J. (1963). *Am. Biochem. Exp. Med.*, 33: 23–28.

Ragsdale, A.C., Thompson, H.J. and Worstell, D.M. (1948). M.O. Agric. Exp. Sta. Bull. No. 425.

Rai, S.N. and Mudgal, V.D. (1989). Feeding of treated straw for efficient utilisation and production by Murrah buffaloes. Proc. Indo-Austr. Sem. on Improving Straw Utilisation by Buffaloes for Growth and Milk Production, p. 157–178.

Rajorhia, G.S. (1987). Buffalo Milk Products. *Indian Farming.*, 37: 6–52.

Ramesh, B. and Bindal, M.P. (1987). *Indian J. Dairy Sci.*, 40: 94.

Ramesh, B. and Bindal, M.P. (1987). *Indian J. Dairy Sci.*, 40: 303.

Ramirez, T.J. (1978). Chemical characteristics and sensory acceptability of concentrated and diluted carabeef stew. Under-graduate Thesis, U.P. at Los Banes, p. 57.

Ranjhan, S.K., Jayal, M.M. and Sawhney, D.C. (1973). Application of life saving Research in Animal Feeding, ICAR, Krishi Bhavan, New Delhi.

Ranjhan, S.K. and Pathak, N.N. (1979). Management and Feeding of Buffaloes. Vikas Publishing House. New Delhi.

Rathi, S.S. and Balaine, D.S. (1971). Studies on growth in buffaloes from brith to two years of age. *Indian Vet. J.*, 48: 1021.

Rathi, S.S., Balaine, D.S. and Kanaujia, A.S. (1973). Body weights and their relationship with economic traits in Indian buffaloes. *Indian J. Anim. Prod.*, 4: 1–8.

Rathi, C.S. and Yadav, I.S. (1971). Effect of different protein levels on the performance of Murrah calves. *Haryana Agric. Univ. J. Res.*, 1(2).

Rao, C.K. and Murari, T. (1956). Studies on reproduction in Indian buffaloes. *Indian Vet. J.*, 33: 54–57.

Rao, M.K. and Nagarcenkar, R. (1977). Potentiality of the buffalo. World Rev. Anim. Production, 13: 53–62.

Rao, A.V.N. and Sree mannaya (1982). Clinical analysis of reproductive failure among Bubalus bubalis under village management in Andhra Pradesh. Theriogenology, 18: 403.

Rao, D.V. and Ramamurth, M.K. (1985). *Indian J. Dairy Sci.*, 40: 238.

Razdan, M.N. (1988). Buffalo performance in relation to climatic environment. Proc. II Wld. Buff. Cong. Invited Papers and Special Lectures, Vol. II, Part II, p. 173.

Reddy, D.B. and Ramakrishna, K. (1960). Factors influecning the length of gestation period of Murrah buffaloes. *Indian Vet. J.*, 37: 202.

Reddy, C.E. (1980). Genetic analysis of breeding records of buffaloes. Ph.D. Thesis, Kurukshetra University, Kurukshetra.

Reddy, C.E. and Taneja, V.K. (1984). Factors influencing the first lactation traits of Nili-Ravi buffaloes. *Indian J. Dairy Sci.*, 37: 36–39.

Reddy, A.O. (1985). Studies on certain behavioural patterns in Murrah buffaloes under loose housing system. Ph.D. Thesis, Kurukshetra University, Kurukshetra.

Roy, A., Pandey, M.D. and Rawat, J.S. (1960). Composition of bovine semen. *Indian J. Dairy Sci.*, 13: 112.

Roy, D.J. and Luktuke, S.N. (1962). Studies on involution of uterus in buffaloes. *Indian J. Vet. Sci.*, 32: 205.

Reyudu, G.V.N., Panjarathinum, R., Patel, B.M. and Shukla, P.C. (1973). *Indian J. Microbiol.*, 13: 217.

Samad, H.A., Ali, S.C., Ahamad, M.K., Rehman, N. (1984). Reproductive diseases of the water buffalo. In: 10th International Cong. Anim. Reproduction & A.I. University of Illinois, Vol. IV.

Sarma, P.A., Sharma, D.D., Basu, S.B. and Nagarcenkar, R. (1979). A note on Murrah buffalo for meat production. *Indian J. Anim. Sci.*, 49: 570.

Sharma, D.N. and Sharma, D.D. (1985). Effect of dietary protein level on growth, body composition, carcass characteristics and meat quality of male buffalo calves. Annual Report, NDRI, Karnal, p. 64.

Sandhu, T.S. (1985). The buffalo for dairy industry. Proc. Ist Wld. Buff. Cong., Cairo, Egypt, p. 187.

Sangwan, D.C., Vidyasagar and Pradhan, K. (1984). *Indian J. Anim. Sci.*, 57: 562.

Sastry, N.S.R. and Gall, C.F. (1985). *Wld. Anim. Rev.*, 55: 2.

Sastry, N.S.R. and Yadav, R.S. (1987). Efficiency of special summer managemental practices of buffalo heifers in reducing their age at first calving. Proc. International Symp. Milk Buff. Reprod., Islamabad (PARC), March 16–20, p. 433.

Sastry, N.S.R. and Bhagat, S.S. (1988). *Indian J. Anim. Prod. Mgmt*, 4.

Saini, A.L. and Gill, R.S. (1988). Milk production in relation to variation in size and shape of udder and teats in Murrah buffaloes. Proc. II World Buff. Cong., Vol. II, Genetics and Breeding, Digestive Physiology and Nutrition, held at New Delhi, 12–16 December, p. 71.

Saxena, H.K. (1968). Studies on variation in shape and size of udder and teats in Murrah buffaloes. M.V.Sc. Thesis, JNKVV, Jabalpur.

Schneider, B.M., Warner, J.N., Dharmani, I.D., Aggarwal, B.F., Sukhatme, P.V., Ramdherkar, V.G. and Sankaran, A.N. (1948). Misc. Bull. No. 61, ICAR, New Delhi.

Sebastian, L., Mudgal, V.D. and Nair, P.G. (1970). Comparative efficiency of milk production by Sahiwal cattle and Murrah buffalo. *U.S. J. Anim. Sci.*, 30: 253.

Sengar, S.S., Sikka, P., Dahiya, S.S., Gupta, R. and Mudgal, V.D. (1990). Milk production in early lactation in buffaloes maintained on urea-treated and less degradable protein supplemented wheat straw. *Indian J. Dairy Sci.*, 43(4): 503–508.

Sengar, O.P.S. and Singh, S.N. (1969). Studies on the digestive system of ruminants. *Agra Univ. J. Res. and Science*, Vol. XVIII, PL III, September, 17–34.

Sengar, S.S. (1989). Growth production in buffaloes maintained on wheat straw based rations. Proc. Indo-Austr. Sem. on Improving Straw Utilisation by Buffaloes for growth and milk production, p. 194–205.

Shalash, M.R. (1958). Physiology of reproduction in the buffalo cows. *Indian J. Fert.*, 3: 425.

Sharma, H.A. (1956). *Indian J. Dairy Sci.*, 9: 17.

Sharma, K.M. and Talapatra (1963). Growth response in buffalo calves. *Indian J. Dairy Sci.*, 17: 236–244.

Sharma, O.P., Bhalla, R.C. and Soni, B.K. (1967). Abnormalities of the uterus of buffalo cows (*Bos. bubalis*). *Indian J. Anim. Health.*, 6:21–29.

Sharma, S.C. (1974). Effect of different levels of energy on growth rate and feed utilisation of buffalo calves. M.Sc. Thesis, Punjab University, Chandigarh.

Sharma, R.C. and Singh, B.P. (1978). Evaluation of the genetic potential of Bhadawari buffaloes. Reproductive Characters. *Indian Vet. J.*, 55(8): 595–600.

Sharma, N., Padda, G.S. and Kondaiaha, N. (1980). Annual Scientific Report, Division of Livestock Products Technology, IVRI, Izatnagar.

Sharma, A. and Basu, S.B. (1984). Genetic architecture of Nili buffaloes. I. Growth. *Indian Vet. J.*, 61: 227–32.

Sharma, D. and Bindal, M.P. 91987). *Indian J. Dairy Sci.*, 40: 238.

Shrestha, N.P. and Yazman, J.A. (1988). Performance of Murrah and native x Murrah cross-breed buffaloes in Nepal. Proc. II Wld. Buff. Cong., Genetics and Breeding, Digestive Physiologly and Nutrition, held at New Delhi, 12–16 December, p. 28.

Shukla, P.C. and Supeker, P.G. (1983). *Indian J. Anim. Sci.*, 53: 196.

Sen, K.C. and Dastur, N.N. (1951). IX International Cong. Pure and Appl. Chem, Proc., 3: 271.

Senkhla, A.K. and Yadav, R.K. (1981). *Indian J. Dairy Sci.*, 34: 327.

Sindhi, J.S. and Roy, N.K. (1974). Milchwissenschafi, 29: 9.

Sindhi, J.S. and Singhal, O.P. (1988). Quantitative aspects of buffalo milk constituents for products technology. Proc. II Wld. Buff. Cong., Buffalo Prod. and Health, held at New Delhi, 12–16 December, p. 263–287.

Singh, R.N. (1958). Dairy Chemistry. The National Book House, Jeonimandi, Agra.

Singh, S.B. and Desai, R.N. (1962). Production characteirstics of Bhadawari buffalo cows. *Indian J. Dairy Sci.*, 17(3): 109–112.

Singh, S.P. and Dutt, M. (1964). Study of reproduction efficiency in Murrah buffaloes. *Indian J. Dairy Sci.*, 17 (3) : 109-112.

Singh, B.B. and Singh, B.P. (1967). Effects of calving season on lactation yeild of Murrah buffaloes after eliminating the effects of lactation period, lactation order and non-orthogoality. *Indian J. Anim. Health.*, 11: 251.

Singh, G., Taneja, V.K., Bajpai, L.D. and Bhat, P.N. (1971). *Indian J. Anim. Prod.*, 2: 13.

Singh, B.B. and Singh, B.P. (1974). *Indian J. Anim. Hlth.*, 13: 149.

Singh, J. (1979). Inheritance of life time production and its relationship with some measures of efficiency of milk production in buffaloes. M.Sc. Thesis, Punjab Agric. University, Ludhiana.

Singh, S., Dhillon, J.S. and Tiwana, M.S. (1980). The effect of body weight changes during early lactation on post-partum reproduction performance of buffalo. In: Buffalo Management Systems. Eds. R.N. Pal and N.S.R. Sastry, Haryana Agric. Univ., Hisar.

Singh, M.P., Mehta, O.P., Karki, D.B., Singh, R.A. and Sastry, N.S.R. (1985a). *Indian J. Anim. Prod. Mgmt.*, 1: 109.

Singh, M.P., Karki, D.B., Mehla, O.P. and Sastry, N.S.R. (1985b). *Indian J. Dairy Sci.*, 38: 289.

Singh, Narendra, Kumar, Ramesh and Akbar, M.A. (1988). Milk production as influenced by amines during different seasons in buffaloes. Proc. II Wld. Buff. Cong., Physiology and Reproduction, Vol. II, p. 281.

Singhal, O.P. and Jain, M.K. (1973). *Indian J. Anim. Sci.*, 43: 1026.

Singhal, S.P., Dhanda, O.P. and Razdan, M.N. (1984). Proc. 10th Int. Cong. Anim. Reprod. Vet. Med., J. Urbana, Vol. III, No. 471.

Singhla, S.K. and Madan, M.L. (1988). Single embryo recoveries in cattle and buffalo embryo transfer programme. IV SAPI Conference and National Symp. on Cryobiological Research in Animal Production, held at CIRG, Makhdoom, farah, Mathura (UP). 24–26 September, p. 71.

Sinha, K.C. and Minnet, F.C. (1947). Application of water to the body surface of water buffaloes and its effects on milk yield. *J. Anim. Sci.*, 6: 258–264.

Sinha, R.C., Sengupta, B.P. and Roy, A. (1966). *Indian J. Dairy Sci.*, 11: 54.

Singh, U.B., Verma, A., Verma, D.N., Lal, M. and Ranjhan, S.K. (1973). *In vivo* measurements of the production rates of bacteria in the rumen. *Journal of Agric. Sci.*, Cambridge, 81: 349.

Singh, U.B., Verma, D.N., Varma, A. and Ranjhan, S.K. (1974). Measurements of the rate of production of bacteria in the rumen of buffalo calves. *J. Agric. Sci.*, Cambridge, 83: 13–17.

Singh, K. and Mudgal, V.D. (1978). Annual Report, NDRI, Karnal, p. 145–146.

Smith, W. (1928). Breeds of Indian Cattle. II The Murrah buffalo. *J. Central Bur. Anim. Husb. and Dairying in India*, 1: 153.

Stewart, A.D. and Banerjee (1930–31). *Indian J. Med. Res.*, 18: 57.

Srivastava, R.V.N. and Chaturvedi, M.L. (1973). *Indian J. Anim. Sci.*, 43: 615.

Tandon, R.N. (1977). *Indian J. Dairy Sci.*, 30: 341.

Tomar, N.S. and Tomar, S.P.S. (1960). *Indian Vet. J.*, 37: 445.

Tomar, N.S. (1965). *Indian Dairymen*, 17: 389.

Tomer, S.P.S. and Desai, R.N. (1965). A study of growth rate in buffaloes maintained on military farms. *Indian Vet. J.*, 42: 116.

Tomar, O.S. (1980). Management practices for optimum milk production in buffaloes. In: Buffalo management system. Eds. R.N. Pal and N.S.R. Sastry, Haryana Agric. Univ., Hisar.

Tripathi, V.N., Thomas, C.K., Sastry, N.S.R., Gupta, L.R. and Pal, R.N. (1972). *Indian J. Anim. Sci.*, 42: 128.

Tripathi, V.N. (1985). Annual Report. All India Coordinated Research Project on Buffaloes, NDRI, Karnal.

Tripathi, V.N. (1986). Management practices for reducing seasonal variation in milk production. Proc. IDA (NZ) seminar. Banaras Hindu University, Varanasi, 23–24 August.

Tumwasor (1982). Production of Swamp, Murrah and their crosses under Thai conditions. Secondo Convegno Internazionale Sullalle vomento bufalino nel mondo. Attidel Convegno, p.55.

Tyrrell, H.F. and Reid, J.T. (1965). Prediction of energy value of cow's milk. *J. Dairy Sci.*, 48: 1215.

Vale, W.G., Ohashi, O.M., Sousa, O.M. and Riberiro, H.F. (1981). *Pesquisa Vet. Brasileiro J.*, 101–104.

Verma, D.N. and Hussain, Q.Z. (1985). Study of growth rate and birth weight of Haiyana and Murrah buffalo calves. *Indian Vet. J.*, 62: 316320.

Villegas, V. (1930) *Philipp. Agric.* 19: 3–9.

Verma, D.N. and Singh, U.B. (1980). Studies on the production rate of bacteria in the rumen and their relationship with dry matter, nitrogen, digestible organic matter, total digestible nutrients and VFA production in buffaloes. *J. Nuclear Agric & Biol.*, 9: 16.

Wanapat, M. (1983). Ensilage of rice straw and water hyacinth fed to native cattle and swamp buffaloes. Proc. II Workshop on utilisation of low quality roughages with special reference to developing country. Faculty of Agric., Univ. of Alexandria, Egypt. March.

Yadav, R.S., Sastry, N.S.R. and Aggarwal, C.K. (1985). Effect of three rearing systems on growth performance of female buffalo calves in different seasons. *Indian J. Anim. Prod. Mgmt.*, 1(1): 19–27.

Yarkin, J. (1952). Anodolu mandalari uzerinde orastirmalor, II (observation on Anatolan buffaloes, II). Annals Fae. Agri. Univ. Ankara, 2: 115–184.

Yongzuo Xio (1988). Cross-breeding in buffaloes. Proc. II Wld. Buff. Cong., New Delhi 12–16 December. Invited papers and Special Lectures, 2, 1: 319–325.

पुस्तक में प्रयोग किये गये तकनीकी शब्दों की हिंदी-अंग्रेजी शब्दावली

अभिरंजक	Stain
आमाशय	Stomach
अण्डकोष	Testis
अनुवर्धक	Booster
आसुत	Distilled
अवत्वक्	Subcutaneous
अमीनो अम्ल	Amino acid
आनुवंशिकता	Heredity
अभ्यंतर अंग	Viscera
अयन	Udder
अल्प विकसित	Hypoplastic
अन्तःप्रजनन	Inbreeding
आहार	Ration
अपुष्टिकर योगज	Non-nutritive additives
अंस अवस्था	Pectoral form
अति तीव्र अवस्था	Peracute form
अनुतीव्र अवस्था	Sub acute form
अंग घांत	Paralysis
अपघटन	Degradation
अपरिष्कृत	Crude
अपूतित	Aseptic
अधिडिम्बक्षरण	Ovulation
असंतृप्त	Unsaturated

अनुरक्षण	Maintenance
अप्रोटीन	Non-protein
उपजात	By product
उर्वरता उपचार	Fertility treatment
ऊष्ण कटिबंधीय	Subtropical
उत्पादन राशन	Production ration
उपकला	Epithelium
उन्मूलन	Eradication
उद्दीपन	Stimulation
ऊतक	Tissue
कृत्रिम गर्भाधान	Artificial insemination
कब्ज	Constipation
कच्चा	Crude
काम लिप्सा	Libido
खनिज	Mineral
खाद्य–पदार्थ	Feeding stuff
खाद्य–मानक	Feeding standards
खली	Cake
खीस	Colostrum
खुरपका मुंह	Foot and mouth
पका रोग	disease
ग्रास नली	Esophagus
गर्भावधि	Gestation
गर्भधारण	Conception
गर्भाशय द्वारा शोथ	Cervicitis
गर्भाशय शोथ	Matritis
गैस भरा गर्भाशय	Pyometra
गर्भाशय फोड़ा	Uterine absis

गलघोंटू	Haemorrahagic septisemia
चिरकारी	Chronic
चोकर	Bran
चयन सूचकांक	Selection index
जीवाणु	Bacteria
जल अपघटन	Hydrolysis
जनन अंग	Reproductive organs
जैविक रूप से सक्रिय	Biogenic
डिम्ब	Ovum
डिम्ब क्षरण	Ovulation
डिम्ब ग्रंथि	Ovary
डिम्ब ग्रंथि शोथ	Ovaritis
डिम्बाणु जनन कोशिका	Oosite
तीव्र	Acute
थनैला	Mastitis
द्वियोनि	Double vagina
दाता	Donar
धनायन	Cations
निकृष्ट	Inferior
नथुना	Nostril
निर्जीवीकरण	Sterilization
नियमन	Regular
नस्ल	Breed
निदान	Diagnosis
प्रतिजीवी	Antibiotic
प्रतिरक्षा	Immunity
पुटक	Follicle
परजीवी	Parasitic

पूय	Pus
परिपक्वता	Maturity
प्लीहा	Spleen
परिवेश	Ambient
प्रतिरोधी	Antiseptic
परिरक्षक	Preservative
पानी भरा गर्भाशय	Hydrometra
प्रापी	Recipient
ब्यांत	Lactation
बच्चा जनन अन्तराल	Calving interval
बन्ध्य	Infertile
बढ़वार	Growth
बचाव	Protection
बच्चा जनन के पश्चात्	Post partum oestrus
भगशोथ	Vulvitis
भ्रूण प्रतिरोपण	Embryo transfer
भस्म	Ash
मस्तिष्क	Fore head
मुड़ी गर्भाशय	Bent uterus
मध्यपट	Diaphragm
मदकाल	Oestrus
मूत्र योनि	Urovagina
मृत भ्रूण	Mummified faetus
महामारी	Epidemic
मदचक्र	Oestrus cycle
यूथ	Herd
योगज	Additive
रेशा	Fibre

रोग का कारण	Etiology
रोग प्रकट होने का समय	Incubation period
रोग	Disease
लक्षण	Symptoms
लंगडी	Black quarter
लक्षणहीन	Subclinical
वैकृति संबंधी	Pathological
वंशागति	Hereditory
वृक्क	Kidney
विकृति	Morbidity
वृषण	Scrotum
विषाणु	Virus
विक्षति	Lesion
वीर्य	Semen
वरण	Selection
वाष्पशील	Volatile
शुक्र वाहिनी	Vasdeference
शुक्राणु	Sperm
शुक्रसेचन	Insemination
शोथ	Oedema
शोथ अवस्था	Odematic form
स्तन	Teat
संभोग काल	Period of mating
सांसर्गिक	Contagious
संवर्ध	Culture
संघटन	Composition
संदूषित	Contaminated

स्तंभक	Astringent
संभागीकरण	Homogenous
सहयुग्मजी	Homozygous
सूचकांक	Index
संक्रमण	Infection
संगरोध	Quarantine
संवेदनशीलता	Susceptibility
संतुलित	Balanced
संयोजी	Connective
संकर	Hybrid
संवातन	Ventilation
सांद्रता	Concentration
संकरण	Cross breeding
समलक्षणी	Phenotypic
संतति परीक्षण	Progeny testing
स्थूल चारे	Bulky roughage
समूहन	Agglutination
सत्व	Extract
संप्रवाहक	Flushing
हिमीकरण	Freezing
ऋतुमयी	In heat
ऋतु	Season
ऋणायन	Anions

Annexure-II

IMPORTANT BUFFALO PRODUCTION FARMS

	Name of Farm	*Breed of buffalo*
	INDIA	
1.	Government Dairy Farm, Hanumanthwaka, Waltair, Andhra Pradesh	Murrah
2.	Livestock Research Station, Lava, Distt. Guntur, Andhra Pradesh	Murrah
3.	Livestock Farm, Kodappanakunnu, Trivandrum, Kerala	Murrah
4.	Ramanathapuram, District Livestock Farm, Chettrnad	Murrah
5.	District Livestock Farm, Pudukkotai	Murrah
6.	Agriculture College Dairy, Coimbatore	Murrah
7.	Arey Milk Colony, Bombay	Murrah
8.	Adarsh Dudghalaya, Malad, Bombay	Murrah
9.	Livestock Research Station, Haringhatta, Mohanpur, Distt. Nadia, West Bengal	Murrah
10.	Government Dairy Farm, Kudige, Distt. Coorg	Murrah
11.	Southern Regional Station, National Dairy Research Institute, Bangalore	Murrah
12.	Punjab Agricultural University, Ludhiana	Murrah
13.	Central Institute for Research in Buffaloes, Hisar	Murrah
14.	Haryana Agriculture University, Hisar	Murrah
15.	National Dairy Research Institute, Karnal	Murrah

16.	Rajasthan College of Veterinary Science and Animal Husbandry, Bikaner	Murrah
17.	State Livestock-cum-Agricultural Farm, Saidpur, Jhansi	Murrah
18.	Indian Veterinary Research Institute, Izatnagar	Murrah
19.	Allahabad Agriculture Institute, Allahabad	Murrah
20.	College of Agriculture, Banaras Hindu University, Varanasi	Murrah
21.	State Livestock-cum-Agricultural Farm, Bhadawari, Jhansi	Bhadawari
22.	Central Institute for Research on Buffaloes, Sub-station, Nabha, Punjab	Nili-Ravi
23.	Central Surti Buffalo Farm, Ankleshwar, Gujarat	Surti
24.	M.L. Sukhadia University of Agriculture, Udaipur	Surti
25.	Southern Regional Station of NDRI, Post Office: Adugodi, Bangalore	Surti
26.	Dharmaram College, Hosur Road, Bangalore	Surti
	PAKISTAN	
27.	Government Buffalo Breeding Farm, Bahadur Nagar	Nili-Ravi
28.	Livestock Farm, Montogomery	Nili
29.	Okara Military Farm	Nili-Ravi
	CEYLON	
30.	Experimental Livestock Farm, Ceylon	Murrah
	IRAQ	
31.	Herd of Abu-Ghraib Experimental Station, University of Baghdad	Iraqi Buffalo

32. Herd of the Faculty of Agriculture and Veterinary Medicine, University of Mosul	Iraqi Buffalo
33. Baghdad Milk Procurement Area Private herds in the neighbourhood of the city	Iraqi Buffalo
34. Private herds in the Dairy Adminstration Settlements of Thabab-al-Abyadh	Iraqi Buffalo
UAR (EGYPT)	
35. Private buffalo herds in the vicinity of Cairo	Egyptian Buffalo
36. Herds of the Ministry of Agriculture at Sakha Experimental Station	Egyptian Buffalo
37. Herds of the Ministry of Agriculture at Shebin-el-kon	Egyptian Buffalo
38. Herds of the Faculty of Agriculture, University of Alexandria	Egyptian Buffalo
39. Herds of the Faculty of Agriculture, University of Cairo	Egyptian Buffalo
USSR	
40. Collective Farms in the southern parts of Azerbaijan Republic	Azerbaijanian Buffalo
41. Studs Farms in the Republic of Azerbaijan	Azerbaijanian Buffalo
BULGARIA	
42. State Farm Herd, Cooperative Farm Herd	Bulgarian Buffalo
PHILIPPINES	
43. Alabang Sock Farm	Murrah
44. Herd of the College of Agriculture University of Philippines	Philippine Carabao

140/CSTT/ND/2K -1000 Books- Jan.02- MGITBP/Chdg

PED.792
1000 -2001 (DSK II)

मूल्य रु. 540/-

Printed by the Manager, Government of India Text-Books Press, Chandigarh-160002 and published by the Controller of Publications, Civil Lines, Delhi-110054.